शैवज्ञान मीमांसा

भाग २

Shaivgyan Mimansa-2

डॉ. दीपाली खजूरीया

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू

द्वारा संचालित

मुख्य कार्यालयः ४२/११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४१६२२१७३५

E-mail : sshodh@gmail.com, jksanskritsociety@gmail.com

।। श्री।।

संस्कृत शोध संस्थान, ग्रन्थमाला ०५

शैवज्ञान मीमांसा

भाग २

डॉ. दीपाली खजूरीया

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

शिवदृष्टि, त्र्यम्बकदर्शन, अद्वैत शैव दर्शन, पराद्वैत दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन इत्यादि अनेक संज्ञा वाले कश्मीर शैव दर्शन का मूल उत्स माने जाते हैं। आचार्य सोमानन्द ने "शिवदृष्टि" में अद्वैतवाद को बताया है। यह एक प्रकरण ग्रन्थ माना गया है। इस प्रकार "शिवदृष्टि" शीर्षक अद्वैत शैवदर्शन की उस सम्पूर्णता का द्योतक माना गया है। शिवदृष्टि में शिव शब्द का अर्थ परमसत्ता और "दृष्टि" शब्द का अर्थ दर्शन माना गया है।[1] चाहे उसके इतने सारे तत्त्व हैं अर्थात् 36 तत्त्व ही हैं – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, मुख, त्वचा) पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, मल, मूत्रद्वार), पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश), पञ्च तन्मात्रा (पृथ्वी तन्मात्रा, जल तन्मात्रा, वायु तन्मात्रा, आकाश तन्मात्रा) मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष। माया के पाँच कञ्चुक (कला, विद्या, राग, काल, नियति), माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव शक्ति और परमशिव।

परमशिव को ही इन सबका स्रोत माना गया है। इस प्रकार 36 संख्यात्मक रूपों को धारण करते हुये परमशिव अनेक रूपों को धारण किया करते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उसके क्रीड़ा स्वभाव की अभिव्यक्ति मानी जाती है। वह विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय है। सभी पदार्थों में शिवतत्त्व ही स्फुरित होता है, उसकी तीन शक्तियाँ अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया समरस अवस्था में रहती है। तब उसकी चिद्रूपाह्लादस्वरूप, निर्विभाग पर विश्वोत्तीर्ण अवस्था मानी जाती है। सभी भावों में आत्मस्वरूप शिव का ही व्यवहार होना चाहिये क्योंकि वे निर्वृतचित्स्वरूप है। वे ही सब जगह इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप में भासमान होता है।

शिव पूर्ण चिदानन्दमात्र में प्रकाशित होता रहता है और उसी में उसका लय भी रहता है। उस समय उसकी सारी इच्छायें, सारा ज्ञान और सम्पूर्ण क्रियायें सब कुछ उसमें लीन रहता है। तब चिद्रूप आह्लादस्वरूप परमशिव की निर्विभाग अवस्था होती है। वही परावस्था मानी जाती है।

कश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमेश्वर या परमशिव को ही एकमात्र परमसत्य माना गया है। इस परमशिव (परमेश्वर) के दो स्वरूप माने गये हैं – विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। परमशिव एक ही साथ अपने दोनों स्वरूपों में शाश्वत रूप से एवं सतत् रूप से विराजमान रहता है। पहली स्थिति में वह केवल प्रकाशमय है इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

परमशिव का दूसरा स्वरूप विश्वमय है। यह सच्चिदानन्द है। परमशिव जब अपनी सत्ता का स्वयं विमर्श करता है, तब उसके भीतर शक्ति का उल्लास या स्पन्दन होता है।

तब सन्मात्र की स्थिति में ही आत्मप्रकाश रूप में उसकी एक कला अथवा सूक्ष्मतम शक्ति उत्पन्न होती है जिसे चित् कहा जाता है। यह चित् उस पूर्ण सत्य की बहिर्मुखता का प्रथम प्रकाश कहा जाता है। परमेश्वर अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा ही इन तीनों रूपों में बहिर्मुख होता है तब उसका यह विश्वमय रूप कहा जाता है।

स्थूल रूप में प्रत्येक प्राणी में रहने वाला शिवतत्त्व ही आत्मा है। यह चैतन्य स्वरूप है। परासंवित्, परमशिव, परमेश्वर इत्यादि इसके अनेक नाम हैं। सूक्ष्म दृष्टि से जड़ चेतन सब कुछ यही है। इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक यह शिव पूर्णानन्दस्वरूप वाला है। विमर्श शक्ति इसका स्वभाव है। इस विमर्श शक्ति के पाँच स्वरूप महत्त्वपूर्ण कहे गये हैं – इच्छा, ज्ञान, क्रिया, चित् और आनन्द। इसके बिना शिव और शिव के बिना यह शक्ति नहीं रह सकती। दोनों का अभेद होने पर ही परमशिव पूर्ण है। इस शक्ति में जब उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और निमेष होने पर प्रलय होता है।

परमशिव जैसा-जैसा स्थान अर्थात् लोक या भुवन होता है वैसा-वैसा ही शरीर को धारण करता है और उसी-उसी प्रकार की उसकी भावना भी होती है, और उसी-उसी रूप में वह इन लोकों में प्रसिद्धि को प्राप्त करता है।

दुःखात्मक रूप में वेदनीय कर्म करने वाले और उस कर्म के फलस्वरूप नरक रूपी समुद्र में निवास करने वाले पापात्मक शरीरों को भी धारण करने वाला वह परमशिव ही है।

शिव ही पृथिव्यादि रूप से सम्पन्न होकर विराजमान है। वैयाकरण लोग पश्यन्ती वाक् को परमतत्त्व मानते हैं। परमशिवतत्त्व चित्त्स्वरूप और विश्वानुभवरूप है। जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न गन्धों (सेंट, इत्र) आदि को बेचने वाले गन्धी के पास सभी पृथ् द्रव्यों की सुगन्ध क्रम, मात्रा आदि से रहित एक गन्ध के रूप में भासित होती है उसी प्रकार परमशिव समस्त भावमय जगत् को देश, काल, क्रम, वाच्यवाचक भाव आदि से रहित एकरूप में देखता हुआ पूर्णरूप में स्थित है।

शिव सर्वत्र ही व्यापक है, केवल उसकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में होती है। जिस प्रकार अभिन्न से भिन्नता तथा भिन्न में अभिन्नता का आभास होता है। जिस प्रकार हाथ, पैर आदि अवयव भिन्न होने पर भी यह देवदत्त हैं ऐसी एकत्वबुद्धि प्रकट होती है, उसी प्रकार भिन्न प्रतीत होने वाले विश्व के समस्त पदार्थों में भी एक शिव का रूप अनुस्यूत होता है। जैसे कि कटक कुण्डल आदि में भी सुवर्ण की सत्ता अनुस्यूत होती है उसी प्रकार सुवर्ण आदि समस्त सांसारिक पदार्थों में चित् तत्त्व का आभास होता है।

इस प्रकार एक ही पदार्थ अनभिव्यक्त रूप से अर्थात् अभिव्यक्त रूप से सर्वत्र प्रकाशित होता है। चुंकि परमतत्त्व स्वतन्त्र है। इस कारण यह माना जाता है कि सर्वत्र तत्त्व एक ही है और वह सब में अभिव्याप्त होता है। व्यतिरिक्त अर्थात् पृथक् प्रतीत होने वाले मन्त्र रूप शब्द से वह अभिन्न है और उसी से सब व्याप्त है और यह सत्ता रूप सम्बन्ध एकमात्र परमशिव के द्वारा ही प्रकट होता है।

समस्त पदार्थों में एक रूप समता जिस प्रकार है, उसमें कभी भी भिन्नता नहीं है। उसी प्रकार इस विश्व ब्रह्माण्ड में शाश्वत रूपेण वर्तमान है। चुंकि सभी पदार्थ चित्तस्वरूप हैं। क्योंकि भिन्नता में भी चित्ततत्त्व व्याप्त है। अतः भेद में भी एकता की सिद्धि हो जाती है। इस संसार में सब कुछ या सभी कुछ इच्छावान् व्यापक अमूर्त ज्ञान क्रिया वाले तथा प्रभु अर्थात् अपने या किसी न किसी के स्वामी या जनक हैं तथा इच्छामर्श वाले अर्थात् इच्छा सहित सभी आत्म चेतना वाले हैं। सभी विकासशील, आनन्द पूर्ण तथा मोक्ष चाहने वाले हैं। सब जगह ही शिव तत्त्व का साम्य फैला हुआ परिलक्षित होता है। शिवतत्त्व तो सुखात्मक है परन्तु जहाँ दुःख दिखाई देता है वहाँ शिवतत्त्व अपरिस्फुट होता है। दुःख आदि से परिपूर्ण कीट पतङ्ग आदि में भी धैर्य देखा जाता है जहाँ दुःख आदि से छुटकारा मिलता है वहाँ शिवतत्त्व परिस्फुट होता है।

पदार्थों का नश्वर अर्थात् क्षणिक माना जायें या अनश्वर अर्थात् स्थायी माना जाये, जोकि वस्तुओं का स्वभाव है उसमें किसी भी प्रकार की हेतु सन्निधि या नश्वर होने की कल्पना के लिए स्थान नहीं है क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव जैसा है वही रहेगा और वही वास्तविक है। वह स्वभाव सर्वत्र एक है जो कि सत् चित् आनन्द तथा क्रिया स्वरूप है। इस कारण एक ही तत्त्व सम्पूर्ण विश्व में स्थित है। सुवर्ण के समान अभेदात्मक स्थिति वैसी ही है। अर्थात् सर्वत्र एक ही तत्त्व स्थित है।

परमेश्वर जब प्रारम्भ में अकेला अद्वैत रहा, उसके बाद उसकी आत्मा में क्रियोन्मुख्य अर्थात् इच्छा का प्रथम-उल्लास हुआ। उस इच्छा के भीतर उसके अनन्तर होने वाले समस्त चित्र विचित्र

कार्य छिपे हुए थे। उसकी आकृति शिंबिका (फली, छीमी) के समान प्रतीत होती थी। ईश्वर की शक्ति विश्वरूप में उसी प्रकार छिपी रहती है जैसे कि घट मृत्पिण्ड आदि में। जिस प्रकार परमेश्वर के भीतर सृष्टि की भावना से परे निराधार सत्कार्य अर्थात् विश्व ब्रह्माण्ड का विसर्ग अर्थात् काल्पनिक सृष्टि का उल्लास उत्पन्न होता है। उसी प्रकार पूर्ण अहन्तायुक्त योगी के भीतर भी सृष्टि के भिन्न-भिन्न भावों अर्थात् पदार्थों के समूह के प्रति आसक्ति होने से उन-उन पदार्थों के निर्माण की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार जगत् को यथार्थतः शिवस्वरूप या आत्मस्वरूप देखने के कारण यह संसार अपने स्थूल भाव अर्थात् भेदात्मकस्वरूप के द्वारा हटकर एकरूपता को प्राप्त हो जाता है और सब ओर एकता ही दिखाई देती है। यह सर्वत्र शिव ही है। ऐसी भावना रूप औषधि के द्वारा सृष्टि के विषय में मन के नियमित हो जाने पर आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शक्ति चतुष्टय का विराम हो जाता है। तो सर्वत्र यह समस्त विश्व एकस्वरूप में प्रतिभासित होने लगता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाता है कि शिव ही कर्त्ता है, वही कर्म और करण भी वही है। इस प्रकार सब कुछ शिवात्मक है। शिव को ही दाता और शिव को ही भोक्ता भी कहा गया है। अतः काश्मीर शैव दर्शन में अनेकता में एकता बताई गई है, कि भिन्न-भिन्न होते हुए भी अर्थात् अनेक रूपों को धारण करते हुए भी एक ही परमशिव मूल में प्रतिष्ठित है।

प्रथम अध्याय में सोमानन्द का जीवन, गुरु- परम्परा, स्थितिकाल का परिचय दिया है। सोमानन्द के काश्मीर शैवदर्शन को योगदान के अन्तर्गत शिवदृष्टि का मूल्यांकन, परात्रिंशिका विवृत्ति और शाक्तविज्ञानम् संज्ञक रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

'परावाक् विषयक नाना मत' शीर्षक के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय में परावाक् की मान्यता के सम्बन्ध में तान्त्रिकमत, भास्करराय और पद्मपादाचार्य का मत, भर्तृहरि का मत और व्याकरणागम का मत विरालेखित किया गया है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत 'शैवमत में परावाक्' शीर्षक के सन्दर्भ में स्वच्छन्दतन्त्र, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज एवं हेलाराज के मत को प्रदर्शित किया गया है।

'शिवदृष्टि में परावाक् का स्थान' नामक चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत सोमानन्द द्वारा शिवदृष्टि में दिग्दर्शित परमसत्ता परावाक् की अवधारणा एवं तत्विषय विषद विवेचन किया गया है। जिससे कश्मीर शैवदर्शन में परावाक् का स्थान निर्धारित किया गया है।

पञ्चम अध्याय में 'शैव एवं अन्य मतों की परावाक् विषयक धारणा का विश्लेषण' प्रदर्शित करके काश्मीर शैवदर्शन की मान्यता का तर्कसंगत सर्वोपरि स्थान निर्धारित किया गया है।

निष्कर्ष में काश्मीर शैवदर्शन के परिपेक्ष में परावाक् शक्ति के सम्बन्ध में सम्पूर्ण शोध का सार दिया गया है।

भवदीय

डॉ. पीयूष बाला

। श्री ।

शैवज्ञान मीमांसा भाग 2

प्रथम अध्याय

सोमानन्द की शैवीयदृष्टि

काश्मीर शैव दर्शन भारतवर्ष की एक अमूल्य निधि है। काश्मीर शैव दर्शन को कुछ विद्वानों अनुसार तीन सम्प्रदायों में विभक्त किया गया है–

1. आगम शास्त्र, 2. स्पन्द शास्त्र, 3. प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

काश्मीर शैव दर्शन को त्रिक् दर्शन भी कहा जाता है। इस दर्शन के प्राचीन नाम दो ही माने जाते हैं– (1) अद्वैत शैव दर्शन और (2) त्र्यम्बक शैव दर्शन। अद्वैत, द्वैत ओर द्वैताद्वैव शैव शास्त्रों का प्रवर्तन कलियुग में तीन सिद्ध पुरुषों के द्वारा हुआ है, जैसे कि शैव शास्त्रों में कहा गया है। इनमें से अद्वैत शास्त्र को त्र्यम्बकादित्य ने द्वैत को अमर्दक ने और द्वैताद्वैत को श्रीनाथ ने चलाया। त्र्यम्बकादित्य सिद्ध दुर्वासा के शिष्य थे; ऐसा सोमानन्द ने 'शिर दृष्टि' में कहा है। "शिवसूत्र" को काश्मीर शैव दर्शन का प्रथम दर्शन ग्रन्थ माना गया है और वसुगुप्त को इस दर्शन का पहला आचार्य माना जाता है। इनसे पहले भी अनेक मठिका गुरु कश्मीर में हुए, जिन्होंने मालिनीविजय, स्वच्छन्द आदि आगम शास्त्रों को प्रकट किया। वसुगुप्त इन आगमों के प्रकाशक गुरुओं में अन्तिम गुरु हैं। 'शिवसूत्र' आगम शास्त्र है और 'शिवदृष्टि' आचार्य सोमानन्द का सबसे पहला दार्शनिक शैली का शास्त्र है। 'सोमानन्द' का 'शिवदृष्टि' में दार्शनिक रूप साकार हुआ है। 'शिवदृष्टि' और 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' में जिन दर्शन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, वे वाम, कौल, त्रिक आदि दर्शन सिद्धान्त सभी आगमिक साधना की प्रक्रियाओं की सांझी सम्पत्ति है, क्योंकि ये सभी साधनाक्रम उन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों की साक्षात् अनुभूति को अपना लक्ष्य बनाए रखते हैं।

'शिवदृष्टि' काश्मीर शिवाद्वैतदर्शन के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाला प्रथमतम ग्रन्थ है। सोमानन्द की यह कृति खण्डनमण्डन की प्रक्रिया को अपनाकर शैव दर्शन की दार्शनिक सूक्ष्मता और विलक्षणता को स्पष्ट करती है। नवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान इस विद्वान ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन की नींव डाली और इनसे ही शिष्यों की एक परम्परा चली, जिसमें उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त आदि सुप्रसिद्ध माने जाते हैं।

'शिवदृष्टि' का प्रथम संस्करण मद्रास पुस्तकालय में उपलब्ध पाण्डुलिपि के अनुकरण के आधार पर मुद्रित किया गया है। 'शिवदृष्टि' को त्र्यम्बकदर्शन, अद्वैत शैव दर्शन, पराद्वैतदर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन इत्यादि अनेक संज्ञा वाले काश्मीर शैव दर्शन का मूल्य उत्स माना जाता है। यह एक प्रकरण ग्रन्थ है, जैसे कि आचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टि के अन्त में स्वयं कहा है।[1]

'शिव' शब्द का अर्थ परमसत्ता और 'दृष्टि' शब्द का अर्थ 'दर्शन' माना गया है, इसका दूसरा नाम 'त्र्यम्बका' एवं कश्मीर की लोकभाषा में 'तेरम्बा' भी है।[2] 'शिवदृष्टि' सात आह्निकों में विभक्त है।

---

1. करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्टचभिधानम्।
   तदेवमेतद् विहितं मया प्रकरणं मनाक्॥ —शि॰ दृ॰ प्रति॰ प॰ वि॰
2. एवमेषा त्र्यम्बकाख्या तेरम्बा देशभाषया
   स्थिता शिष्य प्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता। —शि॰ दृ॰ प्रति॰ प॰ वि॰

सोमानन्द :

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के प्रमुख आचार्यों में श्री सोमानन्द का सर्वोपरि स्थान है। सोमानन्द ने कश्मीर अद्वैत दर्शन को नव्य-मार्ग बतलाया है। सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' में अपने वंश की जानकारी देते हुए स्वयं को सिद्ध त्र्यम्बकादित्य का बीसवां वंशज कहा है। क्योंकि इनके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उनसे उत्पन्न सकल शास्त्र विशारद पुत्र उत्पन्न हुए, जो कश्मीर में आये और संगमादित्य नाम से प्रसिद्ध हुये। संगमादित्य के पश्चात् उनके पुत्र वर्णादित्य और उनके पुत्र अरुणदित्य तथा अरुणादित्य से आनन्द और आनन्द से सोमानन्द बीसवीं पीढ़ी में हुये। इससे पता चलता है कि इनका परम्परा से सिद्ध दुर्वासा से सम्बन्ध था।[1] इनके पिता का नाम आनन्द 'आदित्य' था, जो सकल शास्त्र विशारद और महान् अनुभविक विभूति प्रतीत होते हैं। सोमानन्द व्यक्तित्व की तुलना अपने पिता से करते हैं। इसलिए उनको 'सोमानन्द', 'सोम्य आनन्द' अथवा सौम्य प्रकृतिशीतल स्वभाव सुन्दर रूपवान् आनन्द कहा जाता है।[2] इनका वास्तविक नाम 'उदयाकर' और प्रसिद्ध नाम सोमानन्द बतलाया गया है। 'उदयाकर' को उत्पल ने अपना पिता कहा है और अभिनवगुप्त ने उत्पलदेव को सोमानन्द का शिष्य और पुत्र कहा है। इसलिए कहा गया है कि सोमानन्द को उत्पलदेव गुरु ही नहीं, अपितु महागुरु के रूप में मानते हैं। सिद्ध सोमानन्द ने पहले शैवागमों को ही प्रमुख रूप किया था और इन्होंने ही सर्वप्रथम उसकी एक पूर्ण दार्शनिक रूप प्रदान किया, इसी कारण सोमानन्द को तर्क का कर्त्ता कहा जाता है और उनके सिद्धान्त को व्याख्यात करने के कारण उत्पलदेव को इस दर्शन का व्याख्याता कहा जाता है।[3]

सोमानन्द की महानता का पता इससे चलता है कि इन्होंने साक्षात् शिव को आदि गुरु माना है। इनके शिष्य उत्पलदेव भी इनसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करके गुरु रूप मे प्रसिद्ध हुए और उनके

---

1. कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे। कलापिग्रामप्रमुखे समच्छिन्ने च शासने कैलाशाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया। अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले॥ मुनिं दुर्वासं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम्। नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्॥ ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नवान्। ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः। सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक्त्र्यम्बकाख्यां ततः परम्। तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम्। खमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा। सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश। यावत् पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः॥ स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः। बहिर्मुखरूप तस्याय ब्राह्मणी काचिदेव हि। रुपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम्। दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः सधर्मचारिर्णी सम्यग्गत्वा तत्पितरं स्वयम्। अर्थपित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः॥ ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः तेन यः स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन् नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः। तस्याप्यभूत्स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः॥ —शि॰ दृ॰ पृ॰ 296 से 298
2. (क) आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्भव तथाविधः।
   तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः॥ —शि॰ दृ॰ - 7/120
   (ख) त्रैयम्बकप्रसरसागरशयि सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मण गुप्तनाथः॥ —तं॰ आ॰, आह॰ - 37, श्लो॰ 61
   (ग) जनस्यार्यत्नसिद्धयार्थमुदयाकरसूनुना।
   ईश्वरप्रत्यभिज्ञोयमुत्पलेनोपपादिता॥ —ई॰ प्र॰ का॰, 4/18
3. (क) ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते।
   शिवदृष्टि प्रकरणे करोमि पदसङ्गतिम्॥ —शि॰ दृ॰, वि॰ मं॰ श्लो॰ 3
   (ख) इति प्रकाटितो मया सुघट एष मार्गो नवो।
   महागुरुमिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा॥ —ई॰ प्र॰, का॰ 4/161
   (ग) तर्कस्य कर्तारो व्याख्याताश्च परं नमस्कर्तव्या॥ —तं॰ आ॰ वि॰ प्र॰ आ॰, पृ॰ 30

पश्चात् भी उनके शिष्य, प्रशिष्य आचार्य पदवी से सुशोभित होते रहे।[1] सोमानन्द के अनुसार — उनको **"शिवमय विश्व;** का ज्ञान शिव की कृपा से स्वप्न में हुआ था,[1] जिसे उन्होंने शिवदृष्टि आदि के रूप में विकसित किया है, जिसमें बताया गया है कि प्रत्येक वस्तु शिवमय है। सोमानन्द का महत्त्व वसुगुप्त से भी अधिक प्रतीत होता है, क्योंकि इनका ज्ञान न केवल पैतृक धरोहर से प्राप्त था, अपितु साक्षात् शिव द्वारा ही प्राप्त था। इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इन्होंने साधना के साथ-साथ शास्त्रों का भी गूढ़ अध्ययन किया था।[2]

'ऊर्मिहाशास्त्र' इन शास्त्रों में से सम्भवतः एक था, जैसे कि आचार्य अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' के कथन से प्रतीत होता है। सोमानन्द द्वारा सन्दर्भित— 'शिवोदाता शिवोभोक्ता' — का पूर्ण श्लोक कश्मीर में बहुत प्रसिद्ध है।[3] इस प्रकार कह सकते हैं कि सोमानन्द का जीवन सर्वतः श्रेष्ठ एवं महान् है।

परम्परा :

सिद्ध सोमानन्द की वंशावली की परम्परा दो रूपों में मिलती है—

(प) दैवी पम्परपरा पूर्व परम्परा।

(पप) मानवी परम्परा उत्तरी परम्परा

(प) **दैवी परम्परा :**

सिद्ध सोमानन्द की वंश-परम्परा के दैवी स्रोत स्वयं भगवान् 'शिव-पार्वती' है। 'शिवदृष्टि' में स्वयं उन्होंने कहा है- **"शिवो दाता शिवो भोक्ता"** अर्थात् ही शैवय ज्ञान के मूल प्रदाता हैं, अपनी दैवी वंश परम्परा का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि लोक-कल्याण के लिए स्वयं भगवान शिव ने श्री कण्ठ के रूप में अवतरित होकर ऊर्ध्वरिता सिद्ध दुर्वासा को शिव रहस्य ज्ञान प्रधान किया था, जिसको उन्होंने अपने मानस पुत्र- त्र्यम्बकादित्य, श्रीनाथ और अमर्दक को संक्रमित किया। कश्मीर अद्वैत शैव रहस्यकी परम्परा इस त्र्यम्बकादित्य से आगे अग्रसर हुई, जिसने अन्तर्मुखी भाव से ओत-प्रोत होने के कारण अपने मानस पुत्र और पुत्री को यह ज्ञान प्रधान किया और त्र्यम्बकादित्य ने पुनः अन्तर्मुखी भाववंश अपने मानस पुत्र को उत्पन्न करके यह ज्ञान प्रधान किया। यह परम्परा चौदह सिद्धो तक निरन्तर ऐसे ही चली और पन्द्रहवाँ सिद्ध ने शिव इच्छा से बर्हिमुखी भाव से अविभूत होकर ब्राह्मण कन्या से विवाह किया और कश्मीर में आकर बस गए। उनके संगम से सोलहवें सिद्ध संगमादित्य नाम से प्रसिद्ध हुए।[4] इस प्रकार 'शिवदृष्टि' में पन्द्रहवें सिद्ध तक जो ज्ञान की परम्परा थी वह दैवी परम्परा से सम्बन्धित थी। इसके पश्चात् मानवीय परम्परा चली।

(पप) **मानवी परम्परा :**

मानवी परम्परा को उत्तर परम्परा भी कहा जाता है। सोलहवें सिद्ध संगमादित्य मानवी परम्परा शुरू हुई जो कि सिद्ध सोमानन्द पर्यन्त चली। सोमानन्द ने त्र्यम्बका नाम वाले 'शिवदृष्टि' नामक प्रकरण की रचना की। जो शिष्य प्रशिष्यों में परम्परागत रूप में प्रचलित तथा मठिकाओं

---

1. श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्।
   लक्ष्मणमभिनवगुप्तं बन्दे श्रीक्षेमराजं च॥ —शा॰ ति॰ टी॰, श्लो॰ 3, पृ॰ 7
2. इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं जगदुदितमहेशाङ्घ्रयाज्ञया स्वप्नभाजा।
   पदधिगमबलेन प्राप्य सम्यग् विकासं भवति शिवयात्मा सर्वभावेन सर्वः॥ —शि॰ दृ॰ 7/106, पृ॰ 221
3. न स्वबुद्ध्या शिवो दाता शिवो भोकेति शास्त्रतः। —शि॰ दृ॰ – 7/106 आरम्भे
4. श्रीमदूर्मिमहाशास्त्रे सिद्धसन्तानरूपके।
   इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिशिकेः॥ —जं॰ आ॰, आह॰ 2/48

(पाठशालाओं) में तेरम्बा देशभाषा के माध्यम से यह शिवदृष्टि पठन-पाठन के रूप में चलती रही। इस प्रकार सोमानन्द ने शिवदृष्टि नामक बनाया और इसके सम्यक् ज्ञान के लिए गुरुओं की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार सोमानन्द की उत्तर परम्परा में उनके योग्य एवं सिद्ध पुत्र तथा शिष्य उत्पलदेव हुए। उनके शिष्य लक्ष्मणगुप्त, लक्ष्मणगुप्त के शिष्य अभिनवगुप्त और अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज हुए। इसके पश्चात् भी गुरु परम्परा अर्थात् शिष्य-प्रशिष्यों में परम्परा रूप से आज तक प्रचलित है।[1]

काल :

आचार्य सोमानन्द की तिथि के विषय में कहीं कुछ संकेत नहीं है। सोमानन्द भट्टकल्लट के समकालीन न होकर उनके किञ्चित् परवर्ती थे। इस प्रकार इनका काल नवीं शती का अन्तिम भाग था। सोमानन्द सिद्ध त्र्यम्बकादित्य के वंश से सीधे सम्बन्धित थे। सिद्ध संगमादित्य श्री त्र्यम्बकादित्य की पन्द्रहवीं पीढ़ी की सन्तान थे और इनकी पांचवीं पीढ़ी के वंशज आचार्य सोमानन्द थे और कश्मीर के रहने वाले थे।[2] सोमानन्द मठिका गुरु भी थे।[3] अपने पूर्वजों का जो उल्लेख उन्होंने अपनी रचना में दिया है वे नाम कश्मीर के किसी ऐतिहासिक या साहित्यिक व्यक्तितव से मेल नहीं खाते हैं। यद्यपि इन्होंने अपने स्थितिकाल के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है, तथापि कुछ प्रामाणिक कृतियों के विवरणों से एवं इनसे सम्बन्धित दूसरे आचार्यों का समय निश्चित् हो जाने से इनका काल भी सुगमता से अनुमानित किया जा सकता है।[4] सोमानन्द को वसुगुप्त का परवर्ती माना जाता है, क्योंकि देखा जाता है कि उनको शिवसूत्रों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त था। सोमानन्द अभिनवगुप्त से भी पहले के माने जाते हैं, क्योंकि शैवाचार्य अभिनवगुप्त के गुरुओं में दो गुरु- लक्ष्मणगुप्त तथा भट्टेन्दुराज- दो पृथक्-पृथक् गुरु परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं[5], भट्टेन्दुराज के गुरु मुकुलभट्ट थे[6], जो पुनः भट्टकल्लट के पुत्र थे।[7] इसी प्रकार सद्वंशी त्र्यम्बक सोमानन्द के पुत्र उत्पलदेव एवं इनके पुत्र

---

1. कैलाशाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया। अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले॥
   मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरितसम्। नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्॥
   ततः स भगवान् देवादेशं प्राप्य यत्नवात्। ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम्॥
   तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः। सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक्त्र्यम्बकाख्यां ततः परम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 7/3, 4, 5, 6
2. सिद्धस्तदूत्सुतोत्पत्त्यां सिद्धा एवं चतुर्दश। यावत् पञ्चदशाः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः। स कदाचित्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः। बहिर्मुख स्य-तस्याय ब्राह्मणी काचिदेव हि। रुपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम्। दृष्टवा तां लक्षर्णेयुक्तां योगयां कन्यामथात्मनः। सधर्मचारिणीं सम्यगत्वा तत्पितरं स्वयम्। अर्थयित्वा ब्राह्मणी तामानयामास यत्नतः। ब्रह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः। तेन यः स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन्॥
   —शि॰ दृ॰, पृ॰ 297
3. शि॰ दृ॰ भू॰ - (शधे॰ श॰), पृ॰ 5
4. (क) भट्टेन्दुराजचरणार्ब्जताधिवाराह्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदभिधौऽहम्॥ —ध्व॰ आ॰, मं श्लो॰
   (ख) तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदिप्रत्यभिज्ञोपदेशिनः। श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्यगुरोर्विजयते वचः॥ मा॰ वि॰, श्लो॰ 8
5. श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्यालबालात्।
   काव्यालंकारसारे लघुविवृत्तिमधात्कौकणः श्रीन्दुराजः॥ —का॰ अंत॰, सग॰, 8, 6
6. भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता। सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका॥ —अभि॰ वृ॰ अन्ते श्लो॰ 2
7. (क) त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथाः॥ —तं॰ आ॰ आह॰ 37/61
   (ख) वसुगुप्तनामागुरुः एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान्।
   —शि॰ सू॰ वि॰, पृ॰ 3
   (ग) श्रीकण्ठ वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तदोत्पलाचार्यम्।
   लक्ष्मणमभिनवगुप्तं बन्दे श्रीक्षेमराजं च॥ —शा॰ ति॰ टी॰, श्लो॰ 3, पृ॰ 7

लक्ष्मणगुप्त थे, जो अभिनवगुप्त के गुरु थे। इस प्रकार सोमानन्द और अभिनवगुप्त में और भट्टकल्लट तथा अभिनवगुप्त में दो पीढ़ियों का अन्तर है। भट्टकल्लट सिद्ध वसुगुप्त के शिष्य थे, जिन्हें श्रीकण्ठ से ज्ञान प्राप्त हुआ था।

काल सूची :

श्रीकण्ठ

वसुगुप्त	(800 ई. पू.)	
सोमानन्द	825 ई. पू.	भट्टकल्लट
उत्पलदेव	850 ई. पू.	भट्टमुकुल
लक्ष्मणगुप्त एवं राजानकशमकण्ठ, उत्पलवैष्णव	875 ई. पू.	भट्टेन्दुराज
अभिनवगुप्त	900 ई. पू.	अभिनवगुप्त
क्षेमराज	925 ई. पू.	क्षेमराज

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के समय को ध्यान में रखते हुए इनका स्थिति काल 825 ई. पू. ही रहा होगा।

सोमानन्द का योगदान

शिवदृष्टि :

आचार्य सोमानन्द की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आदि ग्रन्थ तथा अनुपम कृति 'शिवदृष्टि' है। सोमानन्द की शिवदृष्टि ही कश्मीर शैव दर्शन का सर्वप्रथम दार्शनिक ग्रन्थ है। शिवदृष्टि में इन्होंने शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों का, तत्त्वों की सुष्टि का तथा शैव दर्शन के उस विचित्र अद्वैत सिद्धान्त का जिसे अभिनवगुप्त ने पराद्वैत नाम दिया, उसका सुन्दर और स्पष्ट वर्णन किया है। वैयाकरणों के शब्द ब्रह्मवाद का और कुछ एक शैवों की शाक्त दृष्टि का भी इसमें भली-भाँति परीक्षण किया गया है। विवर्तवाद का भी इन्होंने पर्याप्त विश्लेषण करके उसकी आलोचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य सोमानन्द के समय में अर्थात् ईसा की नवीं शताब्दी में काश्मीर देश में वैयाकरणों के शब्द विवर्तवाद का पर्याप्त प्रचार था, परन्तु आचार्य शङ्कर के ब्रह्म विवर्तवाद का इतना प्रचार नहीं था। तभी तो शिवदृष्टि में वैयाकरणों के विवर्तवाद का खूब विश्लेषण करके उसकी आलोचना की गई है।[1] परन्तु अद्वैत वेदान्त के विवर्तवाद का विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। तथापि विवर्त को ही उन्होंने आड़े हाथों लिया है और दूसरे औपनिषद वेदान्त की भी खूब आलोचना की है। साथ ही उन्होंने अविद्यावाद को ही अप्रयुक्त प्रमाण ठहराया है। अद्वैत सिद्धान्त पर जो शंकाएं उठ सकती हैं, उन सबको उठाकर और उनका निराकरण भी एक-एक करके इस ग्रन्थ में उन्होंने किया है। सभी वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि अनेकों दर्शनों के सिद्धान्तों की भी उन्होंने आलोचना की है। उन्होंने औपनिषद वेदान्त के दस मतों का और सब मिलाकर बाईस दार्शनिक मतों का उल्लेख करके उनका खण्डन भी किया है। 'शिवदृष्टि' के अन्तिम प्रकरण में उन्होंने मानव जीवन के पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रयोजनों की प्राप्ति के उपाय बनी हुई अनेकों शैवी साधनाओं का निरूपण भी किया है। ऐसा करके इस पराद्वैत शैव दर्शन के इस अभिनव आविर्भाव का और साथ ही अपनी वंश परम्परा का इतिहास भी उन्होंने क्रम पूर्वक लिखा है। आचार्य सोमानन्द ने जिन और ग्रन्थें

1. का॰ शै॰ द॰, पृ॰ 26

का निर्माण किया था, वे इस समय कहीं भी नहीं मिलते। 'शिवदृष्टि' एक ही मूल कृति हमें उपलब्ध है। 'शिवदृष्टि' पर आचार्य उत्पलदेव द्वारा रची हुई वृत्ति अधूरी ही मिलती है और आचार्य अभिनवगुप्त को शिवदृष्टयालोचन नामक टीका तो मिलती ही नहीं। 'शिवदृष्टि' के मूल श्लोकों की पूरी हस्तलिखित प्रति तो एक ही अभी तक मिली है और वह भी मद्रास में। इसमें सात अध्याओं में 700 के लगभग श्लोक हैं। इन टीकाओं के अभाव के कारण यद्यपि शिवदृष्टि इतीव दुरूह प्रतीत होती है, फिर भी यह शास्त्र अद्वैत शैव शास्त्रों के सूक्ष्मतर विषयों के ज्ञान की एक अमूल्य निधि है। अतः कहा जाता है कि सोमानन्द ने और भी उत्तम रचनाओं का निर्माण किया होगा, परन्तु उनके सम्बन्ध में कुछ जात नहीं है। वर्तमान समय में केवल उनकी सर्वोत्तम और प्रामाणिक कृति 'शिवदृष्टि' पर ही निर्भर रहना पड़ा है। ऐसा कोई अद्वैत शैवाचार्य न होगा, जिसने उससे लाभ न उठाया हो और उसको उद्धृत न किया हो। शाक्त मत के अन्य सब मतों श्रेष्ठ अद्वैत शैव मत का ही एक अंग माना है। परन्तु परमसत्ता की मान्यता अर्थात् शक्ति की अपेक्षा शिव को प्रधानता देना इसकी विशेषता है।[1] जे. सी. चटर्जी के अनुसार इन्होंने अपने ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका 'वृत्ति' भी लिखी थी, जो अभी तक अनुपलब्ध है। कुछ लोग 'परात्रिंशिका विवृति' को भी इनकी रचना मानते हैं। सोमानन्द की 'शिवदृष्टि' ही सर्वप्रथम ऐसा ग्रन्थ है, जो प्रत्यभिज्ञादर्शन की सांगोपांग पृष्ठभूमि के रूप में लोगों के सामने आया और जिस पर त्र्यम्बक शैव दर्शन या काश्मीर शैव दर्शन का भव्य प्रसाद निर्मित हुआ है।[2]

परात्रिंशिका विवृत्ति :

परात्रिंशिका एक आगम शास्त्र है और इसको 'रुद्रयामल' भी कहा जाता है। इसमें रुद्र और रुद्रा अर्थात् शिव और शक्ति का यामल निरूपित हुआ है। त्रिक् दर्शन का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें तीस के लगभग मन्त्र हैं, जिसमें भैरव और भैरवी अर्थात् शिव और शक्ति का प्रश्नोत्तर के रूप में संवाद है। शाक्त मत का यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र है।[3] सोमानन्द, कल्याण, भवभूति आदि पूर्ववर्ती गुरुजनों ने इस पर विवृत्तियां लिखी थीं। अभिनवगुप्त ने सोमानन्द के मत को भली-भांति समझकर ही इस पर विवरण लिखा है[4] और उनका अभिप्राय सोमानन्द द्वारा अभिव्यक्त गूढ़ रहस्य को सर्वसुलभ बनाना है। अतः स्पष्ट है कि सोमानन्द की इस पर लिखी विवृत्ति अत्यन्त मूल्यवान् थी, परन्तु यह अभी तक काल का ग्रास ही बनी हुई है। अतः अद्वैत मत का एक अमोध रत्न लुप्त हो चुका है। जिसमें सोमानन्द के 'परा' विषयक विचारों का आकलन था।[5]

शाक्त-विज्ञानम् :

"परात्रिंशिकातात्पर्यदीपिका" नामक कृति के अन्त में पृथक् रूप से 'शाक्तविज्ञानम्' संज्ञक रचना के दस श्लोक संकलित किये गये हैं, जिनका कृतित्व श्री सोमानन्द से अधिकृत किया गया है। यह तो स्पष्ट नहीं है कि इसमें इतने ही श्लोक हैं या अधिक किन्तु इनकी प्रकृति के विश्लेषण से

---

1. का॰ शै॰ द॰, पृ॰ 26
2. शि॰ दृ॰ – भूमिका, पृ॰ 5
3. (क) एवं मन्त्र फलावाप्तिरित्येतद् रुद्रयामलम्। —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 277
   (ख) सा परा परमा देवी योगेभैरवयामले। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰ 2, 206
4. (क) श्री सोमानन्द कल्याण भवभूति पुरोगमाः तथाहि त्रींशिका शास्त्रविवृत्ततेभ्यः धुर्वुधा॥ तं॰ आ॰ 8, 96
   (ख) तिसृणां शक्तीनां-इच्छा-ज्ञान, क्रियाणां, सृष्टयादि .... प्रोक्तः
   सार्थको द्वि प्रविस्तर .... श्रीतन्त्रसार इति। —परा॰ त्रि॰ वि॰, 17
5. (क) श्री सोमानन्दमतं विमृश्यमया निबद्धमिय। —परा॰ त्रि॰ वि॰, पृ॰ 18
   (ख) परा॰ त्रि॰ वि॰, पृ॰ 16

यह तथ्य अनायास ही उजाग्रत हो जाता है कि इसमें प्रदर्शित शाक्त विज्ञान साधना के माध्यम से परशक्तिपात रूपी भगवती अनाहत कला की अभिव्यक्ति हो जाती हैं इस सर्वोत्तम शाक्त विज्ञान को तेरह प्रकार का कहा गया है और सभी त्रिक शास्त्रों में इसका स्वयं शम्भू द्वारा सूचित किया जाना कहा गया हैं 'शाक्तविज्ञान' की विषय वस्तु के पर्यावेक्षण से यह ज्ञात होता है कि उच्चतम योगिक साधना की अनुभूति का मार्ग प्रशस्त करने वाला है, जिसके अनुभाविक सोमानन्द स्वयं प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सोमानन्द ने और भी उत्तम ग्रन्थों की रचना की होगी, परन्तु उनके सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चलता है। वर्तमान समय में उनकी एकमात्र सर्वोत्तम और प्रमाणिक कृति 'शिवदृष्टि' ही उपलब्ध होती है। उत्पलदेव की कृतियाँ तो इसके प्रसार की द्योतक हैं, जिस प्रकार कुलमत में सोमानन्द की अभिरूचि 'परात्रिंशिका' पर विवृत्ति लिखने में स्पष्ट प्रतीत होती है, उसी प्रकार एक अन्य शाक्तमत क्रम सिद्धान्त के शास्त्रों में भी इनकी गहन प्रवीणता मालूम होती है, क्योंकि इस मत के प्रसिद्ध शास्त्र "श्रीदेवीपञ्चशतिक" में भी इनकी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की भांति ही गुरुता स्वीकार की गई है और इनको श्रीसोमानन्दभट्ट पाद का आदरणीय सम्बोधन से स्मरण किया गया है।[1]

अतः स्पष्ट है कि यह क्रम, कौल और प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तों में सिद्धहस्त गुरु थे, जिनकी अमिट छाप इनकी शिष्य परम्परा पर स्पष्ट झलकती है।

---

1. श्रीदेवीपञ्चशतिकोऽपि अस्य सोमानन्दभट्टपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेवगुरवः॥
—तं॰ आ॰, भा॰ 3, पृ॰ 194

द्वितीय अध्याय

परावाक् विषयक नाना मत

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। इसलिये समाज में अपने अस्तित्व और व्यक्तितव की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही कर पाता है, क्योंकि भाषा उसके भावों, विचारों तथा व्यापारों को प्रकट करने का सरल एवं सहज साधन होता है। वाणी के बिना जगत् शून्य एवं जीवन पङ्गु रूप होता है। समस्त विश्व के प्रायः सभी क्रियाकलाप वाणी पर ही अवलम्बित होते हैं। सभ्यता एवं संस्कृति इसकी देखरेख में बढ़ती और फलन्वित होती है। इसलिए यह ब्रह्म की उत्कृष्ट शक्ति है, जो चैतन्यरूप से समस्त भूतों में विद्यमान रहती है। यह केवल विचारों के विनिमय का ही माध्यम नहीं होती है, अपितु संसार के सकल प्रपञ्च की भी अभिव्यञ्जक होती है, उपनिषद् सिद्धान्तसम्मत ही शारदातिलक अनुसार भी समस्त भूतों का चैतन्यशब्द ब्रह्म ही होता है और यह प्राणियों की देह के मध्य में कुण्डलिनीरूप में अवस्थित रहती हैं[1] इसकी ही पहले 'वाक्' नाम से प्रसिद्धि रही है। उपनिषदों आदि में इसकी अद्भुत महिमा एवं स्वरूप का भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक निरूपण किया गया है। वेदों में इसका प्राकट्य दिव्य ही बतलाया गया है।[2]

अतः यह अनुकरणमूलक अथवा मनोराग व्यञ्जक नहीं है। 'ऋग्वेद' में इसके निरूपन के परिप्रेष्य में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी एवं नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप में इसके चार विभाग निरूपित किये गये हैं।[3] 'ब्राह्मण ग्रन्थों' में इसे चार प्रकार के विभाग की दूसरे रूपों में भी अभिव्यक्त किया गया है।[4] 'तन्त्रशास्त्र' में वाक् अचेतन व्यापार मात्र नहीं हैं, अपितु शिव शक्ति रूप है और वही आत्मा है, जो शब्द और अर्थरूप में प्रकट होती है तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसके क्षणिक व्यापार कहे जाते हैं।[5] 'निरुक्त' अनुसार 'वाक्' से तात्पय है — जो बोली जाये।[6] 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में वाव्ह और जिह्वा का सम्बन्ध स्पष्ट इंगित किया गया है। प्राचीन ऋषियों ने इस जिह्वा व्यापार के पीछे छिपी हुई प्राण शक्ति एवं मानसिक शक्ति का भी संकेत किया है, जिनका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन बीज, बिन्दु, नाद आदि के रूप में हुआ है।[7] वाक् से ही धर्म, अधर्म, सत्य-झूठ, साधु-असाधु, सहृदय-अनुभूति शून्य आदि सभी की जानकारी होती है।[8]

आचार्य भर्तृहरि के अनुसार जगत् में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो शब्द के बिना जाना जा

---

1. (क) प्रजापतिर्वै इदं आसीत्, तस्य वाग् द्वितीया आसीत्, ताम् मिथुनम् स समभवतु, सा गर्भ आधत, सा असमदं अपाक्रमत् सा इमाः प्रजो असृजत्, सा प्रजापतिम् एव पुनः प्रविशत्। का॰ उप॰, 12/5, 27/2
   (ख) चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः। तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यम्। —सा॰ ति॰, 13
2. देवी वाचगमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। —ऋ॰ वे॰, स॰ र॰ ज॰, अं॰ 8
3. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि। —ऋ॰ सं॰, 1/164/45
4. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुब्राह्मण ये मनीषिणः।
   गृहा त्रीणी निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ —ऋ॰ वे॰, 1/164/45
5ण ़ैमम ' ऽमदमतंस प्दजतवकनबजपवद जव ज्ंदजतं चीपसवेवचीलण 'ठल ़ैण्छण कें ऽनचजंए चंहम 263ए 264ण
6. वाक् कस्माद् 9 वचेः। —नि॰, 2/7/2
7. वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। —तै॰ उप॰, 1/3/5
8. बाग्वाव नाम्नो भूयसी .... धर्माचाधर्म च सत्यं चानृतं च साधुं चासाधुं च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च .... यथाकामचारो भवति। —छा॰ उप॰, 7/2

सके।[1] महाकवि कालिदास ने भी अद्वैत शैव दर्शन के अनुसार शिव-शक्ति के ऐक्य के समान वाक् और विचार अर्थात् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध अभिव्यक्त किया है।[2] वाक् और विचार के परस्पर सहयोग की अनिवार्यता देखकर ही वाक् में मन और मन में वाक् की प्रतिष्ठा प्रार्थित की गई है।[3] अद्वैत शैव मत में इस विषय को अति सूक्ष्मता से लिया गया है और परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के रूप में इस समस्या का सम्यक् समाधान भी किया गया है। उनके अनुसार वाणी का मूल स्रोत **"परावाक् शक्ति"** है, जो परब्रह्मरूप कही जाती है और यह "विसर्ग शक्ति एवं "षोडसी कला" भी संज्ञित होती है। अद्वैत शैव दर्शन में यह विश्व, जोकि शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त मना गया है, कादि क्षान्त स्वरूप अभिहित होता है। ऐसा केवल शैव दृष्टिकोण में ही माना जाता है और विसर्गशक्ति ही पारमेश्वरी परमानन्द भूमिबीज होती है। इस प्रकार आकाशादिरूप वनतापत्ति से योनिरूपता ही योनिरूप में संक्रमित हुआ विसर्ग पद कहा जाता है। जहाँ विश्रान्ति प्राप्त होती है। इसी को गुरुवक्त्र एवं शक्तिचक्र कहा जाता है।[4]

संस्कृत वाङ्मय में पच्चास वर्ण माने गये हैं, जिनको शैवों में "मातृका चक्र" नाम से सम्बोधित किया है और गुरुमुख से इनका सम्यक् ज्ञान पाशवी दशाको मुक्त करके पतिदशा दिलाने वाला बतलाया जाता है एवं इनका अभिष्ट वस्तु में यथोचित निवेश ही उसका वीर्य मन्त्रग होता है जिससे 'मन्त्र' गुप्त हो सकते हैं, शेष तो मात्र वर्ण ही रहते हैं।[5] प्रत्येक वर्ण शक्ति विशेष का द्योतक कहा

---

1. न सोऽस्ति पत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनिवद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन गम्यते॥ —वा॰ प॰, 1/124
2. वागर्थाविवि संपृक्तौ वागर्थप्रतिपतये। जगतः पितरौ बन्दे पार्वतीपरमेश्वर॥ —रघु॰ वं॰, 1/4
3. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।—ऐत॰ उप॰, शा॰ पा॰ ।
4. स एष शक्तिविसर्गयुक्तो विश्वं निर्मिणोतीति यथोक्तम—
अस्यान्त र्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा। सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्म कतां ध्रुवम। इति। तथा — कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी परा रस्वस्वरूपबिन्दुगत्या विसर्पिता॥ प्रकाशः सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा। शक्तिकुण्डलिका चैव पाणकुण्डलिका तथा। विर्गप्रान्तदेशे तु परा कुण्डलिनीति च॥ इति। परमेश्वरो विसृजति विश्वं, तच्च धरादिशक्त्यन्तं कादि-क्षान्तरूपम् — इति एतावती विसर्गशक्तिः "षोडशी कला" इति गीयते-पुरुषे षोडशकले तामाहरमृतां कलाम्" — इत्येषा हि न सांख्येया नापि वैदान्तिकी दृक, अपितुं शैव्येव, विसर्गशक्तिरेव च पारमेश्वरी परमानन्दभूमिबीजम्, एवं हि अकारादिरूपं घनतापत्या योनिरूपता गृहीत्वा स्वरूपाप्रच्युतं तदेव स्वस्वरूप एवं योनिरूपे संक्रामद्विसर्गपदमित्युच्यते, यथोक्तम् — स विसर्गो महादेवि यत्र विश्रान्ति मृच्छति। गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते॥ —परा॰ त्रि॰ वि॰, 181, 2
5. (क) ईश्वर उवाच— कथयामि वरारोहे यन्मया जप्यते सदा। अकारादिक्षकारान्ता मातृका वर्णरूपिणी॥
चतुर्दशस्वरोणेता बिन्दुत्रयविभूषिता। कलामण्डलमास्थाय शक्तिरूपं महेश्वरि॥
ककारादिक्षकारान्ता वर्णास्तु शक्तिरूपिणः। व्यञ्जनत्वात्सदानन्दोच्चारणं सहते यतः॥
उच्चारे स्वरसंभिन्नास्ततो देवि न संशयः। पञ्चाशद्वर्णभेदेन शब्दाख्यं वस्तु सुव्रते॥
अकारः प्रथमं देवी क्षकारोऽन्त्यस्ततः परम्। अक्षमालेति विख्याता मातृकावर्णरूपिणी॥
शब्दब्रह्मस्वरूपेयं शब्दातीतं तु जप्यते। शब्दातीतं परं धाम गणनारहितं सदा॥
आत्मस्वरूपं जानीहि ईशस्तु परमेश्वरः। —परा॰ त्रि॰ वि॰, पा॰ टि॰, पृ॰ 193-1994
(ख) न च वर्णमन्त्रादिगुप्तिमात्रमेव फलं, यथा — श्रीवाजसनेयतन्त्रे
वर्णान् यथोचितं निवेश्योक्तम् इत्येतन्मातृकाचक्रं दिव्यं विष्णुपदास्पदम्।
ज्ञातं गुरुमुखात्सम्यक् पशोः पाशान्निकृन्तति॥ इति। तथा श्रीत्रिकहृदयेऽपि—
चक्रशूलाम्बुजादीनां प्राणिनां सरितां नृणाम्। आयुधानां च शक्तीनामन्यस्यापि च कास्यचित्॥
यो निवेशस्तु वर्णानां तद्वीर्य तत्र मन्त्रगम्। तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषा वर्णास्तु केवलाः॥
—परा॰ त्रि॰ वि॰, पा॰ टि॰, पृ॰ 156

जाता है और जिनकी 'अष्टमातृका' अधिकष्ठातृ शक्तियाँ हैं।[1] आठ-आठ के विभेद से वही "कुल चक्र" होती है, जिसमें समस्त जगत् व्याप्त रहता है।[2] य समस्त वर्ग शिवात्मक ही माने गये हैं।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देवनागरी लिपि स्वर और व्यञ्जनों में विभक्त हैं। शैव दर्शन में बीजात्मा स्वर "वाक्" कहे गये हैं, जिनको क्रमशः शिव और शक्तयात्मक अभिहित किया जाता है और इन "स्वर-व्यञ्जनों" के परस्पर स्वरूप व्यमिश्रण से जगत् की सत्ता होना बतलाई गई है।[4] वास्तव में अद्वैत शैव दर्शन इस भाषा के मूल स्वरूप एवं उसके विकास का एक वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण करता है। परमसत्ता को शिव "प्रकाश, बोध, ज्ञान" और शक्ति को "विमर्श, क्रिया, आनन्द, परावाक्" का सामरस्य अभिव्यक्त किया जाता है। जगत् रूप में इसी वाग्रूपता के बिना प्रकाश प्रकाशित ही नहीं हो सकता है।[5] इसकी मुख्य रूप से चार विकाश की दशायें प्रस्तुत की जाती है —

परा-वाक् — चिदानन्दरूप सामरस्य की अवस्था, मयूराण्डरसन्याय की तरह, 'पश्यन्ती', इच्छात्मक, वटधानिकान्याय की तरह, 'मध्यमा' ज्ञानात्मक, भावशमिकान्याय की तरह और 'वैखरी' समस्त देव, मानव, तिर्यकादि की वागिन्द्रिय द्वारा बोली जाने वाली।[6] नागेश भट्ट के अनुसार मूल चक्र में ब्रह्मस्वरूपिणी परावाक्, नाभि में पश्यन्ती, हृदय में मध्यमा और कण्ठ प्रदेश में वैखरी का स्थान होता है।[7] महर्षि वेदव्यास भी देवी भागवत् में वाक् को चारों प्रकारों का निरूपण करते हैं।[8]

---

1. अवर्गे तु महालक्ष्मीः कर्को कमलोद्भवा। चवर्ग्रे तु महेशरानी टुवर्ग तु कुमारिका नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका। ऐन्द्री चेव यवर्गस्था चामुण्हा तु सवर्गिका॥ एतेः अष्ट महामातृः सप्तलोकव्यवस्थितः॥ स्वछ॰ तं॰, प्र॰, पृ॰ 1

2. श्रीत्रिकरत्नकुलेऽपि उक्तम्— अष्टष्टकविभेदेन मातृका या निरूपिता।
   तदेव कुलचक्रं तु तेन व्याप्तमिदं जगत्॥ —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 192

3. श्रीसर्वाचारेऽपि— अज्ञानाच्छङ्कते मूढस्नतः सृष्टिश्च संहृतिः।
   यन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे वर्णाः सर्वे शिवात्मकाः॥ —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 235

4. विश्वात्मकत्वं च परस्परस्वरूपव्यामिश्रतया स्यात्, बीजात्मनां स्वराणां वाचक्वं योनिरूपाणां च व्यञ्जनानां वाच्यत्वं-क्रमेण शिवशक्त्यात्मकत्वात्—
   बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते। इति। तथा—
   बीजयोन्यात्मकाद्भेदाविधा बीजं स्वरा मताः। कादिभिश्व स्मृता योनिः..................॥
   इति श्रीपूर्वशास्त्रनिरूपणात् शिव एव हि प्रमातृभावमत्यजन् वाचकः स्यात्, प्रमेयांशावगाहिनी च शक्तिरेव वाच्या भेदेऽपि हि वाचकः प्रतिपाद्यप्रतिपादकोभयरूपप्रमातृस्वरूपाविच्छिन्न एव प्रयते, शिवात्मकस्वरबीजरूपा श्यानतैव शाक्तव्यञ्जन्योनिभावो — बीजादेव पोनेः प्रसरणात्। —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 148, 149

5. (क) अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदवतरम्।
   विवर्तते र्वभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ —भ॰ वा॰ पा॰ - शि॰ दृ॰ 2/91
   (ख) सहप्रत्यवमर्शो यंः प्रकाशात्मापि वाग्वयुंः।
   नासो विकल्प स हयुक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चय॥ —ई॰ प्र॰ का॰ 1/53
   (ग) यदुक्तं विरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्—
   प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः परावाक्स्वरसवाहिनी या।
   आद्यन्तप्रत्याहृतवर्णगणा सत्यहन्ता सा॥ —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 186

6. मयूण्डरसन्यायेन परा वटधा निकान्यायेन पश्यन्ती,
   माषशमिकान्यायेन मध्यमा, तः परं वेखरी॥ —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पा॰ टि॰ 1, पृ॰ 102

7. परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभि संस्थिता।
   हृदिस्थां मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठे देशागा॥ —व्या॰ सि॰ मं॰

8. सर्गे या सृष्टिरूपा जगदवनविधौ पालिनी या च रौद्री। संहारे चापि यस्याः जगदिदमखिलं या पराख्या॥
   पश्यन्ती मध्यमाथो तदनु भगवती वैखरी वर्णरूपा। सा स्मद् वाचं प्रसन्नविधि हरिगिरिधिरां धिता लङ्करोतु।

महर्षि पतञ्जलि ने भी व्याकरण महाभाष्य पस्पशाह्निक में ऋग्वेद को उद्धृत करके वाक् के चार रूपों को ही मानते हैं, जिसमें साधारण मनुष्यों द्वारा चतुर्थ वाक् "वैखरी" का प्रयोग किया जाना निश्चित् किया गया है।[1] श्रुति तो स्पष्टतया अपनी रहस्यमयी शैली में शब्द को महेश्वररूप में प्रस्तुत करती है, जिसकी व्याकरणपरक युक्तिसंगत व्याख्या करके महर्षि पतञ्जलि शब्दपरब्रह्म एकता प्रतिपादित करते हैं एवं महादेव "परब्रह्म" (परावाक्) का ही पशु रूप में भासित होना मानते हैं।[2] इसका तात्पर्य यह है कि परावाक् "विमर्श, शब्दनेकशरीर, शुद्ध, कर्तृता; आदि शक्ति ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा रूप में विकसित होकर वैखरी के अति स्थूलरूप "श्रवण कथनयोग्य" को धारण कर लेती है, जिसे समस्त प्राणी बोलते हैं।

उत्पलदेव इस बोलने वाली वैखरी वाक् और परावाक् में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित करते हुये कहते हैं कि चिति, प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता होती है और परमात्मा का मुख्य स्वतन्त्र्य एवं ऐश्वर्य होता है।[3] अभिनवगुप्त इसके तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परामर्शमयी

---

1. चत्वरि वाक् परिमिता पदानि तानि बिदुब्रर्हह्मया ये मनीर्षिणः।
   गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाची मनुष्या वदन्ति॥ ऋ॰ वे॰, 1/164/45, मं॰ भ॰ नव॰ पस॰
2. चत्वारि श्रृङ्गाः त्रयोस्य पादा द्वे शीर्षे सुप्तहस्ता सो स्या।
   त्रिधा बद्धो वृषभो शैरवीति महादेव मर्त्या आविवेश॥ —ऋ॰ वे॰, 4/58
   विशेष :– प्रस्तुत मन्त्र में शब्द का पशुविशेष वृषभ के रूप में एवं मेघ के अर्थ में निरूपण शब्द परब्रह्म समाता का परिचायक होना व्याख्या से स्पष्ट है—
   (क) "चत्वारि श्रृङ्गाः" वृषभ के श्रृङ्गों के स्थानापन्न व्याकरण सम्मत शब्द के चार रूप माने गये हैं — नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात।
   (ख) "त्रयो स्य पादाः" — तीन काल — भूत, वर्तमान और भविष्यत् — शब्द के तीन पैर कहे जाते हैं, क्योंकि अभ्युदय पैरों से ही होता है एवं क्रिया भी इन्हीं तीन कालों में प्रयुक्त होती है।
   (ग) "दे शीर्ष" — शब्द की दो आत्मा 'स्वरूप' हैं, एक कारणरूप नित्य जो अन्तरीय अर्थात् परा रूप है। ज्योतरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रह परेण ज्योतिडोक्त्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते॥ शि॰ दृ॰, पृ॰ 12
   यस्या निरूपाधिज्योतीरूपाः शिवसंज्ञाया। व्यपदेशः परां तां त्वाम्बां नित्यमु पास्महे॥ —शि॰ दृ॰ व॰, पृ॰ 94
   स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परा-वागन पायिनी॥ —शि॰ दृ॰, पृ॰ 6
   (घ) "सप्तहस्ता सः — शब्द के सात विभक्तियां रूपी हाथ माने गये हैं। यथा हाथों से ही समस्त कार्यों का सम्पादन होता है तथा प्रथमा से लेकर सप्तमी पर्यन्त सात विभक्तियों में से अर्थ के अनुसार किसी ने किसी का शब्द के साथ प्रयोग अवश्य होता है। व्याकरण अनुसार विभक्ति रहित शब्द काप्रयोग नहीं हो सकता है।
   (ङ) "अस्य त्रिधाबद्ध" — उरस्थल, कण्ठ और मूर्धा — इन तीनों स्थानों से ही इस 'शब्द' का उच्चारण होता है। दन्त, ओष्टादि स्थानों का कण्ठ (मुख) के अन्तर्गत ही बोध समझना चाहिए।
   (च) "वृषभो रोखीति — कामनाओं के वर्णन से अर्थात् जल्द मेघ के समान उनके दान से शब्द उच्चरिंत होता है।
   (छ) "महादेवो मत्या" आविवेश — महान देव पर ब्रह्म देव, महेश्वर अर्थात् सर्वव्यापक परावाक् मनुष्यों में आविष्ट होती है अर्थात् मनुष्यों एवं समस्त प्राणियों में एक ही शक्त अभेद रूप से स्थित होती हैं मुनि भर्तृहरि एवं महर्षि पतञ्जलि शब्द 'परावाक्' और 'आत्मा' महेश्वर के सम्यक् ज्ञान से सायुज्य एवं सर्वज्ञतादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होनी, अभिव्यक्त करते हैं। "अपि प्रयोयुक्तरात्मान शबदमन्तरवस्थितम्। प्राहुर्महान्तं वृषभं येन साख्ज्यमिष्यते॥" —का॰ 131
   और "शब्दार्थ प्रत्येयानामितरेताध्यासात्संकरः तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरूतज्ञानम॥"
   —यो॰ सू॰ 3/17, —छा॰ उप॰, अ॰ 7, ख॰ 2
3. चित्ति : प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
   स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदेश्वर्य परमात्मनः॥ —ई॰ प्र॰ का॰ 1/44

विमर्शनलक्षण ही जो कर्तृता होती है, वही मन्त्रों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का आश्रय होने से सम्यक् आध्यायन और उपबृहणदिकारित्व करके मान्त्री होती है और महामन्त्र शरीर भगवान् से संबन्धिनी शब्दनरूपा होती है, न कि पाश (माया) वर्ग के मध्य पड़ी हुई कर्मेन्द्रियविशेषरूपा अथवातत्कार्य शब्दरूपा "वैखरी" वाक् और परमात्मा की यही कर्तृता ऐश्वर्य होती है न कि कुलाल की तरह करचरणदि – परिरूपन्दमयी। "वाक्" का विशेषण जो "परा" लिया गया है, उसका अर्थात् वाक् का व्यवच्छेद दिखाने के लिए उसका प्रसिद्ध रूप उ क्रम भेद "वाकशक्ति" कही है। शक्ति ग्रहण इन्द्रि शङ्का निरसन के लिए ही है। जिह्वा शब्द से वागन्द्रिय उपलक्षित होती है और उसके माध्यम से दूसरी कर्मेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं। इससे तात्पर्य है प्रसृत "विकसित" स्वरूप जो क्रिया शक्तिलक्षण विमर्श है, वह ही वागादि करण "इन्द्रिय" वर्ग में अविष्ट हुये जड़ को भी स्वाभिषेक द्वारा अजड़ जैसा संपादित कर देती है, जिससे स्वतन्त्रतापूर्वक ही स्वकृत्य अपने आप स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप में शीघ्र ही प्रवर्तित हो जाती है, प्रतयुत् कार्य निर्वर्तन अवस्थित करके निवर्तित होती हे, पुनः कार्यान्तर दूसरे कार्य में भी इसी प्रकार करती।[1] स्पन्दशास्त्र में भी ऐसा ही माना जाता है।[2] विखर अर्थात् शरीर में होने वाली प्रत्युत् तत्पर्यन्त चेष्टा सम्पादित करने वाली होने से यह "वैखरी वाक्" कही जाती है। यह "नीचे से गिनती में प्रथम वाक् कही जाती है।[3] जिह्वा व्यापार उसके कार्य का शब्द कार्य होती है और जिह्वा व्यापार भी वस्तुतः तथा विमर्श स्वभाव ही होता है। क्योंकि समस्त क्रिया विमर्श स्वभाव ही कही गई[4] और यहाँ सर्वत्र सघोष 'स्थूल' और 'अघोष' जो स्वयं ही सुनी जाती, दूसरे द्वारा नहीं[5]" रूप वाग्व्यापार शब्दानुविद्धता प्रधान्य से दिखाई देती है, "वह यह ग्रहण करूंगी, ग्रहण करती हूँ, ग्रहण किया" इस प्रकार उसी से ऐसा कहा जाता है।

---

1. परामर्शमयी विमर्शनलक्ष्णैव या कर्तृता, सैव मन्त्राणमुत्पतिस्थितिल्य स्थानत्वेन समाप्यायनोप वृंहणादिकारित्वेन च मान्त्रां महामन्त्रतनोश्च भगवतः संबन्धिनी शब्दनरूपा, नतु नतु पाशवर्गम यपतिता कर्मेन्द्रियविशेषरूपा तत्कार्यशब्दरूपा वा वाक्। परमात्मनवच एर्णेव कर्तृता ऐश्वर्यम्, नत कुलालस्य इव करचरणादि परस्पन्दमयी। .... । "वाक्" इत्यस्य विशेषण यत् "परा" इति तद्वयवच्छेयं दर्शीयिपतुं तस्याः प्रसिद्धरूपोपक्रमं भेदमाह "वाकशक्तिः" इति। शक्तिग्रहणमिन्द्रियशङ्कानिरासार्थम्। जिह्वाशब्देन वागिन्द्रियमुपलक्ष्यते, तद्द्वारेण च अपराणि कर्मेन्द्रियाणि लक्ष्यन्ते। तदेयमर्थः – प्रसृतरूपो यः क्रियाशक्तिलक्षणो विमर्शः स एव वागादिकरण वर्गमाविशन् जडमपिस्वाभिषेकेण अजडमिव संपादयति येन स्वतन्त्रतयैव स्वकृत्ये स्थूले, वा सूक्ष्में व झटित्येव प्रवर्तते या वत्कार्य निर्वर्तनं च अवस्थाय निवर्तते, पुनः कार्यान्तरे पि एवमिति।"
—ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰2, पृ॰ 187
2. यतः करणवर्गो यं विमूढां मूढवत्स्वयम्। सहान्तरेण चक्रेण प्रवृतिस्थिति संहतीः॥ लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्वमादरात्। यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयकृत्रिमा। —स्प॰ का॰ 1/6, 7
3. (क) विखरः शरीरं, तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासंपादिकेत्यर्थः। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰ 2, पृ॰ 187
   (ख) एषा तावत् प्रथमा वाक्। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰ 2, पृ॰ 188
4. जिह्वाव्यापारस्य हि तत्कार्यस्य शब्दः कार्यः। जिह्वाव्याप रो जिचवस्तुतस्तथाविमर्शस्वभाव एव। विमर्शरूपानधिकस्वभावा हि समस्ता क्रियेति उक्तम्॥ —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰ 2, पृ॰ 187, 188
5. (क) "सघोषः इति स्थूलः। तस्य लक्षण" श्रुयमाणः "इति अविशेषेयादानात् स्वयं च परैश्चेत्यर्थः। उपांश इति अघेषो यः स्वयमेव श्रुयते न परेणः उपगताः स्वसमीपनेव प्रविष्टा अशवः प्रसरा यस्येति। अनेन पाण्यादीनामपि स्थूलसूक्ष्मरूपस्य स्वकार्यस्य उपलक्षणम्। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰ 2, पृ॰ 188
   (ख) आत्मना श्रूयते यस्तु स उपांशुरितित स्मतः। अत्र हि मध्यमापदे आत्मैव संश्रृणुते नापरः इत्युक्तम, स्थानादिप्रयत्नस्फुटतायां दन्तौष्ठपुटादिसंयोग विभागेन अतिनिभृतमपि शब्दोच्चारे निकटतरवर्तिपरश्रवणमपिं स्यादिसिशब्दपलिस्व। परैः संश्रूयते यस्तु सशब्दो सौ प्रकीर्तितः॥ इति वैखरीपदमेव एतत्॥
—परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 7, त : 73

वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती से विलक्षण एका परावाक् होती है, जो इन तीनों में अनुस्यूत होती है अर्थात् इन तीनों रूपों में प्रतिवाच्य अनुसार पृथक् होती है, न कि स्वयं भिन्न होती है। अक्रमता को प्राप्त जो निःशेष 'समस्त' अभिधानों 'शब्दों' के अभिधेय विमृश्यमान रूप दोनों ग्राह्य और ग्राहकात्मक होते हैं, उससे गर्भिणी अर्थात् उससब को अन्तर्हित करके स्थित होती हे, न तो शक्तिमद्रूप परमशिव दश जैसी अनुन्मिषित ग्राह्य ग्राहकादि वैचित्र्या होती है। अतएव भगवान का स्वाभोग के प्रति जो आस्वाद 'चमत्कर' अर्थात् जिन आजभोग परामर्शत्या होती है, यह तन्मयी होती है।[1] इसकी पुष्टि उत्पलदेव ने 'शिव स्तोत्रावली' में सम्यक् रूप से किया है[2] और इस प्रकार परमेश्वर कभी भी तद्रपशून्य नहीं होता है। सोमानन्द भी ऐसा ही कहते हैं और उत्पलदेव इसे सर्वथा युक्ति-युक्त ठहराया है।[3]

अद्वैत शैवों के मतानुसार वैयाकरणों द्वारा "वाक् अवश्य ही वक्ति है" इस स्वरूप द्वारा यदि शुद्ध कर्तृताप्राणा अहमिति असंकुचित महामन्त्रमयी शब्दनरूप नहीं मानी जाती है, तब करणरूपा वह बुद्धीन्द्रिय वर्ग से भी निष्टा कर्मेन्द्रिय स्वभावा पशु प्राणी तिर्यगादि द्वारा साधारण ध्वनिजनिका अहंकार वृत्ति ही कोई "वाक्" मण्यादिवत् होगा और उसमें परत्व कैसे हो सकता है?[4] इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ विश्व में अथवा अद्वैत शैव मतों में परमेश्वर शब्दराशि है। इसकी शक्ति भिन्नभिन्न रूपा विचित्रा है। मातृका देवी वर्गाष्टक रुद्रशक्त्यष्टक पच्चास वर्ग पच्चास रुद्रशक्तियां हैं। आगमों में शब्देकशरीर विमर्शात्मता युक्त ही भगवान् का प्रकाश स्वरूप स्वीकृत किया गया है। जो पुनः ये मायीय वर्ण शब्दात्मरूप होते हैं, वे घटादि स्थानीय 'जड़ तुल्या' होते हैं और उसका उत्थापक अविकल्प, सविकल्परूप पश्यन्ती, मध्यमात्मक ज्ञान ज्ञानान्तर स्थानीय होता है और उसकी निर्वर्तक वागिन्द्रिय पाण्यादि स्थानीय तुल्य होता है और साथ ही द्वैतात्मक माया पक्ष में निक्षित होती है, इसलिए वह परतत्त्व नहीं होती है। वह विषयज्ञानेन्द्रियरूप ही होती है। जो तो वहाँ भी स्वकृत्यांश प्रसाधकत्व दिखाई देती है, वह परतत्त्व के बल के स्पर्श समावेश द्वारा ही होती है।[5] ऐसा ही स्पन्दशास्त्र में और मालिनीविजय में भी कहा गया है।[6] जो काल, देश, आकार से संकुचित होती है, वह घट जड़ की तरह "पर" नहीं हो सकती है। यहाँ 'पर' से तात्पर्य परमेश्वर, सबसे उत्कृष्टमहासत्ता

---

1. तिसृभ्यो पि विलक्षणा इयमिति पुनः शब्देन आह। एका "इति पश्यन्त्य दिकं त्रयमपि प्रतिवाच्यं भिद्यते, नतु तथा इयमित्यर्थः। अक्रमतां प्राप्तं यत् निःषेषं समस्तमभिधानानां शब्दानामीभिधेय विमृश्यमानं रूपं ग्रह्यग्राहकात्मकमुभय, तेन गर्भिणी तत्सर्व क्रीडीकृत्य अवतिष्ठमानाः नतु शक्तिमद्रूपपरमशिंवदशा इव अनुन्मिषितग्राह्यग्राहकादिवोच्त्रिया अत एव भगवतः स्वाभोग प्रति य आस्वाइश्चमत्कारो निजाभोगपरांमर्शात्या, तन्मयी"। ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भा॰ 2, पृ॰ 190
2. स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशसि रूपामृशन्।
   यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥ —शि॰ स्तो॰ 13/15
3. शान्ते शिवत्वं स्थूले पि शिवत्वं यत्र वर्णितम्॥
   तत्र का शान्तता ब्रूहि शक्तेः किं वस्तुता न ते। वस्तुता चेतथाभूतशक्तित्रियसंगमः॥ शि॰ दृ॰ 3/55, 56
4. वाङ्मय वर्वतीत्यनेन वपुषा यदि शुद्धकर्ततप्राणा अहमित्यसंकुचित महा मन्त्रमयी शब्दनरूपा न उपगम्यते वैयाकरणैस्तदा करणरूपा सा बुद्धीन्द्रियवर्गादपि निकृष्टा कमेन्द्रियस्वभावा पशुप्राणिभिस्तिर्यगादिभिः साधारणा ध्वनिजनिका अहंकारवृतिरेव काचित वाक् पाण्यादिवत् तत्र च कथं परत्वं भवेदिति। ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भाग॰ 2, पृ॰ 195
5. अयंभावः- इह तावत्रमेश्वरः शब्दराशिः शक्तिरस्य भिन्नाभिन्नरूपा विचित्रा। मातृकादेवीवार्गाष्टकं रुद्रशक्त्यष्टकं पञ्चाशद्वर्याः पञ्चा शद्रुद्रशक्तयः। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰ भाग॰ 2, पृ॰ 196
6. (क) अपि त्वात्मबलस्पर्शा त् पुरुषो तत्समो भवेत्। —स्प॰ का॰ 1/8
   (ख) तथा चन्यरूपि भगवता — ते तैरालिंगिताः सन्तः सर्वकामफलप्रदाः।
   भवन्ति सधकेन्द्राणां नान्यथा वीरवन्दिते॥ —मा॰ वि॰, 3/28

मानी जाती है, "ब्रह्म" शब्द को इसके उपयुक्त नहीं माना जाता है[1] और वैसे पाशव शब्दज्ञान इन्द्रियादि होने से वह "पर" नहीं हो सकती। परत्व पूर्णत्व को कहा जाता है और इसके विपरीत "संकोच" स्वभाव विरुद्ध उपलब्धि है।[2] सोमानन्द की तरह उत्पलदेव भी शैव मत में वाक् 'जिह्वा' की संख्या की तरह अत्यन्त निम्न दशा में होने वाली कर्मेन्द्रिता ही मानते हैं और पाण्यादि इन्द्रियों की तरह वागिन्द्रिय को ब्रह्म होना अस्वीकृत करते हैं।[3] उनका कथन है — कि बद्ध अणु के व्यवस्थित वागिन्द्रिय अथवा विषयसंज्ञक शब्द का 'परत्व' प्रतिभाव ईश्वरता समापत्ति में जो महामन्त्रमय शब्दनात्मा है, उसमें कहा जाता है।[4] अपने मत की पुष्टि में उन्होंने खेटपाल गुरु को उद्धृत किया है और वैसे ही व्याख्यानि संज्ञक गुरु को भी। उनका कथन है कि प्रमाता की दशा को प्राप्त मन्त्रों और परभूमि उपलब्ध शब्दों का ही 'परत्व' होता है, कभी भी वागिन्द्रिय को नहीं। वागिन्द्रिय माया दशा में ही अवस्थित होती है। शब्द तो परतन्मात्ररूप परव्योम महाभूतमय परमेश्वर को पञ्चब्रह्म विन्यास में वक्त्र कहा जाता है।[5]

(क) तान्त्रिक मत :

सम्पूर्ण विश्व के अन्तराल में अवस्थित अगणित प्रमेयरूप अर्थ किसी न किसी शब्द अथवा पद द्वारा बोधित है, इसीलिए इन्हें पदार्थ कहा जाता है। शब्दानुबोध के बिना किसी भी वस्तुरूवी अर्थ की गति नहीं होता है। तान्त्रिकों के मतानुसार चेतनतत्त्व के पांच प्रकार हैं, जो निम्नलिखित रूप में हैं :-

(1) जागर
(2) स्वप्न
(3) सुषुप्ति
(4) तुरीय
(5) अतितुर्य।[6]

---

1. नह्यद्वयवादे ब्रह्मणः कश्चिदर्थः परो स्तुति शास्त्रे भीष्टः। —शि॰ दृ॰ वृ॰, पृ॰ 52
2. यत् कालदेशाकारकृत्यसंकुचितं न तत् परं घट इव। तथा च पाशवं शब्दज्ञानतदिन्द्रियादीति।
परत्वं पूर्णत्वमुच्यते, तद्विरुद्रश्च संकोच इति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 196
3. (क) शैव वाच इन्द्रियत्वम्......। —शि॰ दृ॰, 3/10
(ख) एवचं यथा पाण्यादीन्द्रियमनादिशास्त्रसिद्धत्वान्न ब्रह्मरूपेण युक्त विरच्य,
अपितु तदनुसारेणैव, तथा वागापि। —शि॰ दृ॰ वृ॰, पृ॰ 48
4. (क) नैतन्न वाचः कथितं पतिशब्दस्य वर्णितम्॥
शब्दस्य विर्षयाख्यस्य न कदाचिदुदाहृतम्॥ —शि॰ दृ॰, 3/12, 13
(ख) नतु वायु गमात्मिकाया वाचः सत्यास्तस्या ब्रह्मरूपतवमेष्टव्यम्।
एवमिष्यमाणे भूतत्वाविशेषात् भूतत्वाविशेषात् घटादरेप्ये वमुच्यताम्॥ —शि॰ दृ॰, पृ॰ 92
5. (क) तथा चाह खेटपालः शब्दराशेर्विशेषेताम्॥ स्वायम्भुवस्य टीकायां वाढमित्यादिना गुरुः।
तथा मतङ्गटोकायां व्याख्यानि गुरुणोदितम् मन्त्राणां परशब्दानामुक्तं वाचो न जातुचित्॥ शि॰ दृ॰, पृ॰ 3/13–15
(ख) "खेटपाल गुरु श्री स्वायम्भुवशास्त्रटीकायां" किं शब्दराशेर्विशेषो स्तिइत्याक्षिप्य, "वाढम् एकः शिवात्मको न्यश्च पाशामकः" इत्यादिनापरत्वेन शब्दराशेर्मन्त्ररूपस्य कर्तशक्तानवस्थानात् विशिष्यमाणतामाह न तु शब्द इत्येव कृत्वा शब्दराशेर्निविशेषत्वम्। तथा व्याख्यानिसंज्ञकेन। —शि॰ दृ॰, पृ॰ 3/13, 14, 15
6. (क) द्रष्टव्य वरिवस्यारहस्य, पृ॰ 23
(ख) इन्द्रियदशकव्यवहतिरूपा या जागरावस्था अन्तः करणचतुष्कव्यवहारः स्वाप्निकावस्था।
आन्तरवृत्तेर्लवती लीनप्रायस्य जीवस्य। वेदनमेव सुषुप्तिः ...।
आनन्दैकघन्तवं यद्वाचामपि न गोचरी नृणाम्। तुर्यातीतावस्था ...। वा॰ रह॰, प्र॰ अं॰, 37–40

शब्द की भी जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के चार अवस्थाएं होती हैं। तुरीय शब्द ही शब्दब्रह्म है, जिसका अतिक्रम करके अतितुर्य अथवा परब्रह्म पद की प्राप्ति होती है। परब्रह्म ही परमशिव है। शब्द का सघोष और अघोष बाह्य व्यवहार इसकी जागरावस्था होती है। समष्टिरूप में इसे हम विराट् शब्द कह सकते हैं। दूसरों से श्रूयमाण शब्द सघोष या वाचिक शब्द होता है। अघोष अथवा उपांशु स्वयं श्रुत होता है, दूसरों के द्वारा नहीं।[1] जाग्रत दशा में सर्वत्र सघोष और अघोषात्मक वागयापाररूप शब्दानुविद्धता प्रधानरूप से दिखाई देती है। यह स्थूल शब्द वैखरी वाणी के नाम से कहा जाता है। विखर अर्थात् शरीर में उत्पन्न होने वाला — शरीरेन्द्रियपर्यन्त चेष्टा-सम्पादक वाणी ही वैखरी वाणी होती है।[2] वैखरी, स्थूल, सूक्ष्म और परभेद से तीन प्रकार की होती है। स्फुट वर्णों की उत्पत्ति में जो कारण होता है, वह स्थूल वैखरी होती है और पदवक्यादि उसके अनेक कार्य होते हैं। विवक्षात्मक अनुसन्धान को सूक्ष्म वैखरी कहा जाता है और अनुपाधिमान् चिदात्मक स्वरूप ही वैखरी का पररूप होता है। वैखरी को क्रियाशक्ति कहा जाता है।[3] यद्यपि अस्फुट क्रियाशक्ति अपनी बीजवस्था-परमाकाला दशा में रहती है, किन्तु यहाँ वैखरी दशा में वह स्फुटरूप ग्रहण करती है। वामकेश्वर तन्त्र के अन्तर्गत नित्याषोडशिकार्णव के अनुसार परमाशक्ति अथवा त्रिपुरा या परावाक् जब स्वनिष्ठस्फुरता का ईक्षण करती है तभी, विश्व का उदय होता है। परमाशक्ति के ईक्षण में न केवल इच्छा अपितु ज्ञान और क्रिया भी सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है। योगिवर भास्करराय ने सेतुबन्ध में पूर्ण रूप में स्पष्ट किया है।[4]

तन्त्रमत अनुसार प्रतिभा ही परावाणी का नामान्तर होती है। परमेश्वर की विश्व रचना के प्रति अन्यनिरपेक्षता को ही परा या प्रतिभादेवी (परावाक्) कहा जाता है। यह प्रतिभा निरतिशय स्वातन्त्र्य (आनन्द) के चमत्कार (भोग) से पूर्ण होती है। इसमें विद्यमान प्रकाशांश वाच्यों-अनन्त गो घटादि अर्थों और विमर्शांश वर्णों, पदों, वाक्यों के रूप में स्फुरित होता है। यह प्रतिभा चित्स्वभावतामात्र, स्वरसोदित परावाक् रूप ही है। इसमें किसी प्रकार के सङ्कोचरूपी कलङ्क की कलुषता का लेश भी नहीं रहता है। भैरवभट्टारिकात्मक इस महासंवित् में सम्पूर्ण चराचर जगत् पारमार्थिक अनपायी रूप से वीर्यमात्र सार अवस्था में विद्यमान रहता है।[5] निलिखल वैषयिक अवबोध के पूर्व और अपरान्तचारी, समस्त विश्वात्मक, परशक्तिप्रभारूप प्रतिभा में निमग्न होने पर अभावजनित ग्लानि घटित नहीं होती।

---

1. उपगताः स्वसमीपमेव प्रविष्टा अंशवः प्रसरा यस्य सः उपांशुः। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰, अ॰-1, वि॰-5, पृ॰ 188
2. विखरः शरीरं, तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासम्पादिकेत्यर्थः। —ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰, अ॰-1, वि॰-5, पृ॰ 187
3. (क) तन्त्रालोक, —तृ॰ आ॰, श्लो॰ 246
   (ख) तन्त्रालोक, श्लो॰ 247
4. वस्तुतस्तु तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति श्रुतावीक्षणस्य बहु स्यामित्याकारकताप्रदर्शनात्प्राथमिकी वृत्तिरिच्छाज्ञानोभयरूपा। ....किं बहुना तत्तमोऽकुस्तेत्यादि श्रुत्यन्तरपर्यालोचनया सैव च कृतिरूपाऽपि। ......एतेन स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चोति श्रुतिरप्युपद्यते। तत्र बलशब्दस्येच्छापरत्वेन प्राचीनैर्व्याख्यानात्। ....तेनेच्छया स्फुरत्तां पश्येदिति पदत्रयेणंच्छाकृतिज्ञानानामैक्यध्वननात् इत्छादित्रयसमष्टिरूपशान्तादेवीस्वरूपमीक्षणमित्युक्तं भवति। —से॰ बं॰, पृ॰ 176-177
5. (क) सा च परमेश्वरी पराभट्टारिका तथाविधनिरतिशयाभेदभागिन्यपि पश्यन्त्यादिकाः परापराभट्टारिकादिस्फाररूपा अन्तः कृत्य तत्तदनन्तवैचित्र्यगर्भमयी .... परामृशते च प्रथमां प्रतिभाभिधानां सङ्कोचकलङ्ककालुष्यलेशशून्यां भगवतीं संविदम्। —परा॰ त्रिं॰, पृ॰ 102
   (ख) अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः।
   तां परां प्रतिभां देवी सङ्गिरन्ते ह्यनुत्तराम्॥ —तंत्रा॰ तृ॰ आ॰, श्लो॰ 66

अपरिच्छिन्न स्वभाव होने पर भी अखण्ड पारमेश्वरी प्रतिभा सर्वात्मक होती है।[1]

शुद्ध संविन्मात्र, प्रकाशपरमार्थ अतितुर्य तत्त्व, सम्पूर्ण प्रमेयात्मक विश्व को अपने से अलग करके सकल भावों से उत्तीर्ण निरावरण रूप में विद्यमान रहता है। महासंवित् की यह शून्यावस्था होती है। उसे ही निष्कल रूप में विद्यमान नाम से कहा जाता है। 'नेति' 'नेति' द्वारा जिस दशा का बोध कराया जाता है, यही वह उत्तीर्ण दशा होती है जो योगियों का चरमकाम्य होता है।[2] सम्पूर्ण विश्वगत भावों के क्षीण होने से इसे शून्य कहा जाता है। इस प्रकार अशून्य या चरम सत्ता ही शून्य होती है।[3] विविक्त नभ के सदृश शोभित वह परमशिव बहिर्मुख होने की इच्छा से किञ्चित चलित होता है। यह चलन उसका आद्य प्रसार होता है। इसको स्पन्द, प्राण और ऊर्मि की संज्ञा दी जाती है। परमशिवरूप पर संवित् का यह प्रथम स्पन्द, स्फुरत्ता अथवा प्रतिभा नामक 'परावाक्' है जो अनन्त अपरिमित प्रमातृ-प्रमेयों का उद्‌भवस्थान होता है।[4]

(ख) भास्करराय और पद्मपादाचार्य का मत :

पद्मपादाचार्य के अनुसार मध्यमा शब्द की व्युत्पत्ति 'मध्ये मा बुद्धिर्यस्याः सा' इस प्रकार से की गई है।[5] उनका कहना है — कि 'मध्यमावाणी' बाह्य अन्तः कारणाद्यात्मक होती है और यह हिरण्यगर्भरूप बिन्दुतत्त्वमय नाभि से लेकर हृदय पर्यन्त स्थान में अभिव्यक्त होती है तथा विशेष स्पन्दसङ्कल्पादिरूप है। भास्करराय इसे नादमयी कहते हैं[6] और आचार्य पद्मपाद इसे बिन्दुमयी कहते हैं। वस्तुतः बिन्दुमयी कहना विचारणीय है। मध्यमा को नाद और ध्वनि आदि पदों से बोधित किया जाता है। मध्यमा के दो भेद होते हैं —

(प) प्रथम सूक्ष्म और

(पप) द्वितीय स्थूल

सूक्ष्म से ही स्थूल का उद्भव होता है। सूक्ष्म नवनादमय है और सूक्ष्म नववर्गात्मक तथा भूतलिपिस्वरूप है। नवनाद निम्नलिखित हैं :-

---

1. (क) यत्प्रातिभं निखिलवैषयिकावबोधपूर्वापरान्तरचरं निखिलात्मकं तत्।
तस्यां प्रलीनवपुषः परशक्तिभासि ग्लानिर्घटेत किमभाववशोपक्लृत्ता॥
(ख) एकैव सा पारमेश्वरी प्रतिभा अस्मदुक्तिमाहात्म्यकल्पिता
एवं विधा अपरिच्छिन्नस्वभावाऽपि सर्वात्मैव॥ —परा॰ त्रिं॰, पृ॰ 108

2. संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्। तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः॥
तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते। नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परा दशा॥ —तं॰ आ॰ 6/9, 10

3. अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥ —स्व॰ तं॰ 4/291

4. स एव खात्मा मेयेऽस्मिन् भेदिते स्वोक्रियोन्मुखः। पतन्समुच्छलत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः॥
इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा। स्पन्दः स्फुरता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता॥ तं॰ आ॰ 6/11, 33

5. मध्ये स्थिता मध्यमा। तदुक्तं—
पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि वैखरीव बहिः।
स्फुटतरनिखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मात्॥ —सौ॰ भा॰, पृ॰ 100

6. (क) अथ बाह्यान्तः करणाद्यात्मिका हिरण्यगर्भरूपिणीं बिन्दुतत्त्वमयीं नाभ्यादि
हृदयान्ताभिव्यक्तिस्थानविशेषस्पन्दसङ्कल्पादिसतत्त्वात् मध्यमां वाचमाह। प्र॰ शा॰ तन्त्र पटल 2, पृ॰ 33
(ख) अथ तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्चयात्मभ्या
बुद्धया युक्तं विशेषस्पन्दप्रकाशरूपनादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते। —भास्॰ सौभा॰ भा॰, पृ॰ 11

1. चिणि
2. चिणिचिणी
3. घण्टानाद
4. शङ्खनाद
5. तन्त्रीनाद
6. तालनाद
7. वेणुनाद
8. भेरीनाद
9. मृदङ्गनाद।

ये नाद सामान्य श्रोत्रग्राह्य नहीं होते हैं, योगियों के द्वारा इनका अनुभव किया जाता है। आचार्य भास्करराय ने नवनादों की समष्टि को मध्यमा कहा है। ये परावाणी के सदृश न तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं और न ही वैखरीवत् अत्यन्त स्थल हैं। अतः इसे 'मध्यमा' कहा जाता है।[1]

आचार्य पद्मपाद ने तो वाणी के पञ्चपदी और सप्तपदी माना है। यथा—

वाणी के पञ्चपद :

1. सूक्ष्मा
2. परा
3. पश्यन्ती
4. मध्यमा
5. वैखरी

वाणी के सप्त पद :

1. शून्य
2. संवित
3. सूक्ष्मा
4. परा
5. पश्यन्ती
6. मध्यमा
7. वैखरी।

शून्य — अनुत्पन्न, स्पंदहीन वाणी।
संवित् — उत्पन्न होने की इच्छा वाली।
सूक्ष्मा — उत्पत्त्यवस्था।
परा — मूलाधार में प्रथम उदित।[2]

---

1. ततो नव नादाः अविकृतशूनदयो जाताः तत्समष्टिश्च नादध्वन्यादिपदवाच्या नातिसूक्ष्मा परावन्नातिस्थूला वैखरीवदतो मध्यमाख्या मातृका मध्यमावयवरूपमविकृतशून्यस्पर्शनादध्वनिबिन्दुशक्तिबीजाक्षराख्यं नादकं मूलाधारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्धे च स्थितम्। —वरि॰ रह॰ अंश 1, पृ॰ 17
2. अथवा सूक्ष्मा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति पञ्चपदीं वाचमाश्रित्याह मूलाधारादिति। सप्तपद्यपि वागनेनैव सूचिता शून्यसंवित्सूक्ष्मादीनि सप्तपदानि। तत्रानुत्पन्ना निष्पन्दा शून्या। वागुत्पित्सुः संवित्। उत्पत्त्यवस्था सूक्ष्मा मूलाधारात् प्रथममुदिता परेति विभागः। प्रपं॰ शा॰ टी॰, पृ॰ 34, द्वि॰ पृ॰

आचार्य भास्करराय ने बिन्दु से रहित आठ कलाओं को ही नाद माना है।[1] बिन्दु की आधी मात्रा मानी जाती है। अर्धचन्द्र और रोधिनी आदि में पूर्वध्वनि की आधी-आधी मात्रा समझनी चाहिए। अर्धचन्द्र से अर्धकाल रोधिनी में और रोधिनी का अर्धकाल नाद में इस तरह क्रमशः उत्तरोत्तरकाल में सूक्ष्मता आ जाती है। कालपरमाणु को ही लव कहते हैं। कमलपत्रों को नीचे, ऊपर रखे हुए, एक साथ ही सुई से भेदने पर प्रत्येक दल में जितना समय लगता है, 'लव' कहते हैं। इस प्रकार कहा जाता है कि इसमें सूक्ष्मकाल की उपलब्धि नहीं होती है। दो सौ छप्पन लवों की एक मात्रा होती है। बिन्दु का उच्चारणकाल एक सौ अट्ठाईस लव है। अर्धचन्द्र का चौंसठ, रोधिनी का बत्तीस, नाद को सोलह, नादान्त का आठ, शक्ति का चार, व्यापिका का दो और समना का एक लव होता है। उन्मना सर्वथा कालहीन है। इसको परमशिव की प्राप्ति का द्वारा कहा गया है और इससे ही परतत्त्व की स्थिति होती है।[2] भास्करराय ने 'सेतुबन्ध' में कहा है कि मनोन्मनी अर्थात् समना की तरह उन्मना का काल भी एकलवात्मक ही है।[3]

आचार्य पद्मपाद ने प्रपञ्चसारविवरण में प्रणवान्तर्गत सात मात्राभेदों का वर्णन किया है, वे निम्नलिखित हैं — अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, शक्ति और शान्त। इनके विराट् हिरण्यगर्भ, कारणगुण, सामान्यगुण, बीज, गुणाभाव और गुणसाक्षी — ये वाच्य हैं, इन्हीं में क्रमशः स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, कारणतव, समत्व, बीजत्व, निर्विशेषत्व और साक्षित्व का दर्शन किया जाता है। प्रपञ्चसारतन्त्र के प्रणव पटल में आचार्य शङ्कर ने इन सात भेदों का संकेत भी दिया है। निश्चल परावाक्रूप प्रणवात्मक कुण्डलिनीशक्ति ही प्रकृति है। पश्यन्ती आदि इसकी विकृतियाँ हैं। प्रणव, उच्चारण से पूर्व पूर्ण संविदात्मक परप्रणवरूप में स्थित रहती है। इसके पश्चात् ज्वालाप्रहवारूप शब्दभेदों को पार करती हुई अभिव्यक्त होती है। ज्योतिर्लिङ्गाकार चिदग्निरूप यह प्रणव भ्रमर के सदृश गुञ्जन करता हुआ मूलाधर से सुषुम्नामार्ग में प्रवेश करता है तथा अकारादि वाचकों और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति तथा पररूपात्मक सात भेदों से शान्तावधि उपसंहृत होकर भूर्द्धदेश अथवा द्वादशान्त में ज्योतिर्मात्ररूप में अनतर और बाहर-शाश्वत्रूप से विद्यमान होती है।[4]

भर्तृहरि का मत :

भर्तृहरि ने व्याकरणागम की व्याख्या में महाभारत के अश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत ब्राह्मण गीता को उद्धृत करते हुए कहा है[5] :- 'बुद्धि जिसका उपादान है, क्रमरूपात्मा, प्राणवृत्ति से अतीत

---

1. (क) बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते। —प्र॰ सं॰ वरि॰ रहस॰
   (ख) यद्यपि बिन्दुविनिमुक्तानां अष्टानामेव नादसंज्ञा मन्त्रशास्त्रे,
   तथापि व्यवहारसौकार्य तत्सहितानामेव सात्र कृतेति ध्येयम्। —वरि॰ र॰ प्रक॰ टी॰, पृ॰ 11, 12
2. हेयाध्वानमधः कुर्वन रेचयेतं वरानने।।
   यावत्सा समना शक्तिः तदूर्ध्वे चोन्मना स्मृता। नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवताः॥
   सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते। तदर्ती वरारोहि पर तत्त्वमनामयम्॥ स्व॰ छं॰, श्लो॰ 1275, 1276, 1277
3. मनोन्मनीति समनाया एव संज्ञान्तरम्। यथा समनायाः कालः तथेवोन्मनीकाल इत्यर्थः।
   एकलवात्मक एव काल इति यावत्। समनातोऽस्याः रूपकालकलामानमिति तत्तु समनात
   आकृत्पा सूक्ष्मत्वाद्दिद्यमानोऽपि कालो दुर्लक्ष्य इत्येवे परम्। —सेतु॰ बं॰, पृ॰ 208
4. आदौ तारः प्रकृतिविकृतिप्रोत्थितोऽसौ च मूलाधारादारादलिवरूतिरविश्य सौषुम्नमार्गम्।
   आद्यैः शान्तावधिभिरनुगो मात्रया सप्तभेदैः शुद्धो मूर्द्धावधिपरिगतः शाश्वतोऽन्तर्बहिश्च॥ —प्रपं॰ सा॰ तं॰, पृ॰ 30
5. (क) वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम। —वाक्य॰ प॰, श्लो॰ 144
   (ख) केवलं बुद्धचुपादानक्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥ म॰ गी॰ आ॰ मे॰, प॰, ब्र॰ गी॰

होकर मध्यमा वाणी प्रवृत्त होती है।', उन्होंने इनका और स्पष्टीकरण किया है :-

अन्तः सन्निवेशयुक्त, क्रम न होने पर भी क्रम को ग्रहण किए हुए के सदृश, बुद्धिमात्र उपादान वाली, प्राणवृत्ति के पीछे रहने वाली, वाणी ही 'मध्यमा वाक्' है।[1] पुर्यष्टकात्मक, प्राणशक्ति की आधारभूत-सुषुम्णा नाड़ी में विश्रान्त मन, बुद्धि और अहंकारात्मक अन्तःकरण को जो विमर्श शक्ति प्रेरित करती है, वही मध्यमा वाणी है और इससे प्रेरित होकर अन्तःकरण, संकल्पन, निश्चय अभिनन और विकल्पन रूप कार्यों में प्रवृत्त होती है, उस समय वह विमर्शमय वाणी, संकल्पातमक ग्राह्य सङ्कल्पयितृरूप ग्राहक और — "मैं चैत्र, घट की कल्पना रहा हूँ" — इत्यादि वाचक शब्द वह, ज्ञानशक्ति एवं मध्यमा वाक् के नाम से कही जाती है।[2]

पश्यन्ती वाक् ईश्वरतत्त्व है। मध्यमा को जहाँ माषशमिकोपमा (उड़द की छीमा के सदृश) क्रमात्मा होने पर भी ऐक्यभावापन्न कहा जाता है, वहीं पश्यन्ती वाणी को वटधानिका (बीज) के तुल्य बताया जाता है। तंत्री में कार्यबिन्दु के नाम से इसी वाणी का उल्लेख मिलता है। कारण बिन्दुस्वरूप शब्दब्रह्म जब पवन प्रेरित होकर, नाभिदेश को प्राप्त होकर विमर्शात्मक मन से युक्त होता है तो उसे ही सामान्यस्पन्द प्रकाशरूप, कार्यबिन्दुमय 'पश्यनती वाक्' की आख्या मिलती है।[3]

पश्यन्तीवाणी में अवस्थित प्रकाशांश को वामाशक्ति और विमर्शांश को इच्छाशक्ति कहा जाता है। महासत्तात्मक पराशक्ति अपने गर्भ में स्थित बीजभावपन्न विश्व का कार्यरूप में बाह्य प्रसार करने को जब उद्यत होती है तो उसमें विश्ववमनकर्तृत्व रहने के कारण उसे 'वामाशक्ति' कहा जाता है। इसका पर्याय ही ब्रह्मा है। महात्रिकोण की वामरेखा का उपलक्षक होने के कारण इसे अंकुशाकार कहा गया है। पितामह ब्रह्मा की शक्ति-भारती के पर्यायरूप इच्छाशक्तयात्मक जनन सामर्थ्य इसमें विद्यमान रहता है। वामा और इच्छा का समाहार ही पश्यन्ती में देखा जाता है।[4]

निर्विकार परा कला, जब स्रष्टव्य पदार्थों का आलोचन करती है तब 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा॰ उ॰ 6-2-3) इस श्रुति के अनुकूल ईक्षणात्मक पश्रूनती कही जाती है। कारण-सरणि (मार्ग से ऊपर उठकर समग्र प्रपञ्च को यह शक्ति अपने में ही देखती है, इसीलिए इसको पश्यन्ती और उत्तीर्ण भी कहा जाता है।[5]

---

1. (क) पञ्चतन्मात्र, मन, बुद्धि और अहङ्कार।
   (ख) मध्यमा त्वन्तः सन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता। पृ॰ 56, वा॰ प॰ टी
2. अन्तः करणं मनोबुद्धचहङ्कारलक्षणं मध्यभूमौ पुर्यष्टकात्मनि प्राणाधारे विश्रान्तं या विमर्शशक्तिः प्रेरयति, सा मध्यमा वाक् तत्प्रेरितं च तदन्तः — करणं सङ्कल्पने, निश्चये अभिमनने च स्वस्मिन् व्यापारे विकल्पनलक्षणे प्रवर्तते। तत्काले सा विमर्शमयी वाक् सङ्कल्पदिकं ग्राह्यं सङ्कल्पयित्रादिरूपं च ग्राहकं स्वेन अभिधानस्य - इयं घटमहं चैत्रः सङ्कल्पयामिइत्यदिर्वाचकस्य शब्दस्य भेदेन स्फुटेन क्रमेण आभुङ्क्ते गादं परामृर्शति यतस्ततश्चिन्तनशब्दवाच्या मध्यभवत्वात् मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा। —ई॰ प्र॰ वि॰, अ॰ 1, वि॰ 5, पृ॰ 188
3. अथ तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपकार्यबिन्दुमयं सत्यश्यन्ती वागुच्यते। —सौ॰ भा॰, पृ॰ 99
4. बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तु यदोन्मुखी॥
   वामा विश्वस्य वमनादङ्कुशाकारतां गता॥
   इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता॥ —यो॰ हृ॰, श्लो॰ 37
5. पश्यतीति पश्यती। अस्याएवोत्तीर्णेत्यपि संज्ञा। उक्तं च सौभाग्यसुधोदये — पश्यति सर्व स्वात्मनि करणानां सरणिमपि युदुत्तीर्णा। तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता। —सौ॰ भा॰, पृ॰ 100

भर्तृहरि ने स्वोपज्ञ टीका में पश्यन्ती के विविध भेदों का उल्लेख करते हुए उसका परारूप भी माना है। ऐसा उनके 'परं तु पश्यन्तीरूपमनभ्रंशमसङ्कीर्ण लोकव्यवहारातीम्' तथा 'चलाचला, आवृता सन्निविष्टज्ञेयाकारा परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा, संसृष्टार्थप्रत्यवभासा' एवं साथ ही प्रतिलब्धसमाधाना, विशुद्धा, प्रतिलीनाकारा, निराकारा और प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा इन भेदों के द्वारा सर्वथा स्पष्ट है। पुनः आश्वमेधिक पर्वगत ब्राह्मणगीता को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है :-

जिसमें वाच्यवाचक का विभाग नहीं होता है, क्रमरहित, स्वरूपज्योति अथवा स्वप्रकाश, अविनाशी सूक्ष्मवाक् ही पश्यन्ती होती है। नित्य आगन्तुक मलों से आकीर्यमाण होने पर भी चन्द्र की चरम कला के सदृश इसका अत्यन्त अभिभव नहीं होता है। इसके स्वरूप का दर्शन हो जाने पर स्वर्गापवर्गरूप अधिकार निवृत्त हो जाता है। षोडशकल पुरुष में से इसे ही अमृता कला के नाम से कहा जाता है।[1]

व्याकरणागम का मत :

व्याकरणागम के मतानुसार वाणी के तीन स्वरूपों की स्थापना की गई है। पश्यन्ती ही परा स्थिति होती है, इसी का वहाँ अनादिनिधन शब्दब्रह्म के नाम से उल्लेख किया जाता है। आचार्य सोमानन्द ने शब्दपरब्रह्माद्वयवाद का खण्डन करते हुए पश्यन्ती का व्याकरणसम्मत स्वरूप बताते हैं कि — 'ईश्वराद्वयवाद में जो ज्ञान-शक्ति अथवा सदाशिवरूपता है वही वैयाकरणों की पश्यन्ती होती है जिसे वे लोग परतत्त्व मानते हैं। यह अनादि अक्षय शब्दतत्त्व होता है, इसे पश्यन्ती संज्ञक 'परावाक्' कहा जाता है। यही शब्द-ब्रह्म सम्पूर्ण देहों में वर्तमान भोक्ता कहा जाता है। यह दर्शन का निरतिशय स्थान अथवा पराकाष्ठा है। इन्द्रिय वृत्तियों से हीन, देश और कालकृत अवच्छेद से शून्य, क्रमात्मक संसार से रहित, अतएव ग्राह्य और ग्राहकात्मक आकार से वर्जित पश्यन्ती ही पराकाष्ठा, परमार्थ एवं परब्रह्म परावाक् होती है।[2] व्याकरणागम में सूक्ष्म शब्द को संज्ञा या चेतना कहा गया है। पराप्रकृतिरूप चिन्मयी वाणी, अनन्त प्रमेयात्मक गवादि आकारों को धारण करती है। प्रतिभात्मक परावाणी की उपासना करने वाले लोग ही मृत्यु का अतिवर्तन करते हैं।

व्याकरणागम का अभिमत है कि कुण्डल, कटक, रूचक, स्वस्तिक आदि आकारों के उपसंहृत होने पर सुवर्ण ही जैसे सत्य ठहरता है वैसे अनन्त विकार समूह के नष्ट हो जाने पर सब के अन्त में अवस्थित अनयायी ब्रह्मरूप ही सत्य और नित्या होता है। व्यवहार में जातियों की भी आपेक्षित नित्यता मानी जाती है। यथा व्यक्ति के नष्ट होने पर गोत्वादि जाति ही नित्यरूप से वर्तमान रहती है। गोत्व और अश्वत्व आदि जाति भेद दूर होकर पृथिवीत्वादि में समविष्ट हो जाती है। पृथिवी और जलत्व आदि जातियाँ भी समस्त नामों की प्रतीति कराने वाली वस्तुवसंज्ञाक जाति में उपसंहृत होती है। वस्तुत्त्व में भी अनपायी संवितरूपता का दर्शन किया जाता है। यह अविषयाकार विवेकात्मक संवित्रूपता ही पारमार्थिक सत्य है। इसी को 'नेति, नेति' द्वारा उपासनीय कहा जाता है। यह संवित् पश्यन्ती रूप परावाक् है। शब्दब्रह्ममयी यह संवित् ही ब्रह्मतत्त्व है जो परमार्थिक शब्दतत्त्व से भिन्न नहीं होता। इस अन्त्त संवितरूप ब्रह्म को ही आगमवेत्ताओं ने सत्य सर्वाविकारानुयायी, प्रशांतकल्लोल, चिदेकघन पराप्रकृति के नाम से जाना जाता है।[3]

---

1. —वा॰ प॰ टी॰, पृ॰ 57
2. —शि॰ दृ॰, सा॰ 2, श्लो॰ 1, 2, 3, 4, 5
3. (क) —वा॰ प॰, तृ॰ क॰, द्र॰ स॰, श्लो॰ 11, 15
   (ख) —हेव॰ जा॰ स॰ उ॰, पृ॰ 29

तृतीय अध्याय

शैवमत में परावाक्

शैवदर्शन में परिपूर्ण अहन्ता की परिचायक आत्मा को मूलभूत महासत्ता माना गया है। इसे परासंवित्, चिति अथवा पराचितिए परावाक् परमसत्ता, शिव, महेश्वर, चेतन एवं शंकर[1] इत्यादि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। शङ्करोपनिषत्संग्रह में तो चैतन्य को आत्मा का स्वभाव माना गया है[2], जो सर्वज्ञान-क्रिया में सर्वथा परिपूर्ण स्वतन्त्र है।[3] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार के अनुसार ये सर्वकर्तृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व आत्म-महेश्वर में आदिसिद्ध है[4], इसलिए ईश्वर की सिद्धि अथवा निराकरण में मूर्खजन ही तत्पर हो सकते हैं, क्योंकि इसका यह ऐश्वर्य स्वसंवेदनसिद्ध होता है।[5] इसका स्वभाव यही होता है कि यह स्वतन्त्र ज्ञाता और स्वतन्त्र कर्त्ता है। अतः यह स्वतन्त्र है और स्वातन्त्र्य ही इसकी मुख्य शक्ति है।[6]

सभी वस्तुओं का अस्तित्व चेतना के प्रकाश पर ही अवलम्बित होता है, जैसे कि उपनिषदों में भी कहा गया है।[7] अतः आत्मा प्रकाशरूप ही है।[8] चैतन्य जगत् का स्वभाव है, अतः उसकी सिद्धि के लिए प्रमाणादि अनुपयुक्त हैं। एक तो उसके स्वप्रकाश चैतन्य के आश्रित होने से दूसरे चैतन्य के किसी भी प्रकार से सदा प्रकाशमान होने के कारण किसी अन्य द्वारा बाधित न होने से ही यह प्रयुक्त होता है[9], जबकि आत्मा तो सदैव नित्य सिद्ध है। अतः इसका पार पाना शिर की छाया के द्वारा लाँघने के समान असम्भव है।[10] इसलिए आस्तिक या नास्तिक भी इसको किसी भी कारण से सिद्ध अथवा असिद्ध नहीं कर सकता।

---

1. शङ्करं स्तुमः। -स्प० का० - 1/2.
2. चैतन्यमात्मा। -शि० सू० - 1/1.
3. चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः। -शि० सू० वि० - 1/1.
4. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
   अजडात्मां निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥ -ई० प्र० का०, 1/2.
5. सर्वेषां स्वात्मकः..........वप्रकाशस्य प्रमात्रेकवयुषः पूर्वसिद्धस्य पुरातास्य ज्ञानं क्रिया च स्वसंवेदसिद्धमेवैश्वर्यं,
   तेनेश्वरस्य सिद्धौ निराकरणे च जडानामेवोद्यमः॥ -ई० प्र० का०, 1/1.
6. स्वातन्त्र्यमेतन्मुखयम्॥ -ई० प्र० 1/5/13.
7. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
   तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वसिदं विभाति॥ -मुण्ड० उप० 2/2/10.
8. स एव आत्मा, स्वभाव .... भावाभाववस्वरूप विश्वस्य........।
   वहि अचेत्यमानः को अपि, कस्यापि कदाचिपति स्वभावो भवति।
   चेत्यमानस्तुस्वप्रकाशचिदेकीभूत्वान् चैतन्यमात्मेव॥ -शि० सू० वि०, 1/2.
9. (क) यतः चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः तव एव तत्साधनाय प्रमाणादि वशकम्
   अनुपयुक्तम, तस्यापि स्वप्रकाशचैतन्याधीनसिद्धिकत्वात्, चैतन्यस्य च
   प्रोक्तयुक्त्या केनापि आवरीतुम् सदा प्रकाशमानत्वात्। -शि० सू० वि०, पृ० 1/1.
   (ख) ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिचिछन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धो अभिनवार्थप्रकाशनरूपं च
   प्रमाणवराकमुपयुक्तम् उपपन्नं वा। -प्र० हृ० टी०, पृ० 1/6.
10. तदुक्तं त्रिकसारेः। स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
    पादोदेदशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला॥ -प्र० हृ० टी०, पृ० 1/7.

देश, काल एवं अकारादि की सीमा में भी इसको सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे भी इसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। यह विमर्शरूप शक्ति ही विश्वमूर्ति अथवा विश्वमयता को प्राप्त होती हैं। चिदात्मदेव अन्तः स्थिति प्रमाता प्रमेय रूप समस्त प्रपञ्च को योगी की भाँति बिना किसी उपादान की सहायता से केवल अपनी इच्छा से बहिः अभिव्यक्त करती है।[1] परात्रिंशिका में भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के कथन के समान ही कहा गया है कि जिस प्रकार वह वृक्ष के बीज में शक्ति रूप महावृक्ष अपने समस्त रूप-रंग आकार में अवस्थित होता है, उसी प्रकार हृदयबीज में समस्त चराचर विश्व अवस्थित रहता है।[2] यह आत्माप्रकाश और आनन्द का नित्य सामरस्यस्वरूप है। इसकी अनन्त शक्तियाँ कही गई है।[3] उनमें से मुख्य पाँच-चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया है।[4] सोमानन्द ने भी 'शिवदृष्टि' में आत्मरूप शिव (परावाक्) की पाँच शक्त्यात्मकता का सार निरूपण किया है।[5]

अभिनवगुप्त ने महोपदेशविंशतिकम् में उपर्युक्त तथ्यों के सार के रूप में आत्मा को प्रपञ्चोत्तीर्ण के साथ विश्वमूर्ति भी कहा है। प्रपञ्चोत्तीर्ण को ही अनुत्तर अथवा प्रकाशमय एवं विश्वोत्रीर्ण कहा जाता है। यह आत्मा की वह अवस्था होती है, जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप जड़चेतन प्रपञ्च उनसे एक रूप में अवस्थित होता है, जैसे अग्नि में डाली गई वस्तु अग्निरूप हो जाती है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी ऐसा ही कहा गया है।[6] क्योंकि आत्म-परमेश्वर केवल प्रकाशरूप ही नहीं, अपितु विमर्श स्वभाव भी माना जाता है। इस विमर्श को ही उसका स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व एवं ऐश्वर्य माना जाता है।[7] अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में भी इसी तयि को प्रदर्शित करते हुये कहा है कि यदि महेश्वर केवल प्रकाशरूप ही हो और विमर्श उसका स्वभाव नहीं हो, तो प्रकाशमान होने पर पत्थर आदि जड़ों की भाँति हो जायेगा।[8] उत्पलदेव ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में ऐसा ही कहा है[9] और क्षेमराज ने पराप्रावेशिका में इसी तयि को प्रकाशित किया है।

विमर्श से तात्पर्य है — विश्वाकार, विश्वप्रकाश और विश्वसंहरण के द्वारा अकृत्रिम अहम् का विस्फुरण होना।[10] इसलिए स्वच्छन्द शास्त्र[11] एवं नेत्रतन्त्र में कहा गया है कि इस परम शिवतत्त्व को न

---

1. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिचछावशाद्विहिः।
   योगीव निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ -ई॰ प्र॰ - 1/38.
2. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
   तथा हृदयबीजस्यं विश्वमेतच्चरावरम्॥ -परा॰ त्रिं॰, श्लो॰ 34.
3. प्रपञ्चोतीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये।
   सदानन्दप्रकाशाय स्वात्मानेऽनन्तरशक्तये॥ -म॰ उप॰ विं॰ - 1.
4. शक्तयश्च अस्य असंख्येया - 301
   इत्येवं मुख्याभिः (पञ्चभिः) शक्तिमिर्युक्तोपि वस्तुतः
   इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः शिवरूपः॥ -तं॰ सा॰, पृ॰ 28.
5. आत्मैव सर्वभावेषुस्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।
   अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृवाक्रियः शिवः॥ -शि॰ दृ॰ - 1/2.
6. तदुत्तीर्णशिवमध्यस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव माताः। -प्र॰ हृ॰ टी॰, पृ॰ 5.
7. प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः। उक्तं च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः॥
   स्वातत्र्यमयकर्तृत्वं मुख्यमीश्वरताऽपि च॥ -अ॰ प्र॰ सि॰ - 23.
8. अस्यास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
   महेश्वरत्त्वं संवित्त्वं तदप्यक्षदघटादिवत्॥ -तं॰ आ॰ - 3/100.
9. स्वभावमवभावस्य विमर्शं विदुरूपया।
   प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः॥ -ई॰ प्र॰ - 1/42.
10. इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसहारणेन - चाकृत्रिमाहम् - इति विस्फुरणम्। यदि निविमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत्। -परा॰ प्रा॰, श्लो॰-2.
11. अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः।
    त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम्। -स्वच्छ॰ तं॰ - 4/392.

जानकर के जो कल्पित शरीर इत्यादि को ही अपनी आत्मा मान लेते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते हैं। अतएव बद्ध ही रहते हैं, चूँकि सर्वज्ञादि गुणों से अन्वित निर्मला, परमशक्ति (परावाक्) का उनमें विकास नहीं होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार मोक्ष कोई अन्य वस्तु नहीं है। इसके विपरीत आणव, मायीय तथा कार्य मल से जकड़ित होने के कारण शरीर इत्यादि अनात्म में आत्माभिमान ही बन्धन है। अतः मोक्ष न तो कोई धाम है और न ही कहीं अन्यत्र गमन है, प्रत्युत् स्वशक्ति अभिव्यक्तितता ही मोख है।[1] प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी ऐसा ही कहा गया है।[2] वासतव में आत्म-परमेश्वर (परावाक्) अपनी विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमयरूप की लीला को अपने सृष्टि, स्थिति, विलय, संहार तथा अनुग्रह रूपी पञ्च कार्यों को सदा करती रहती है। ऐसा करते रहने पर भी उसके अक्षर स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, जिस प्रकार समुद्र के समुद्रत्व में जलवीचि इत्यादि रूपों को धारण करने पर भी उसमें कोई विकार नहीं आता।

नेत्रतन्त्रादि शैवागमों के साररूप में क्षेमराज ने आत्मा (परावाक्, परमसत्ता) के निराभास रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि इस परमावस्था में सीमित अहंभाव का और नील, सुख इत्यादि प्रमेयभाव का बोध नहीं होता है।[3] पशुभाव और पतिभाव का भेद विलीन हो जाता है, एकमात्र पूर्ण अहन्तारूप आत्मपरमेश्वर (परावाक्) का विस्फुरण होता है।[4]

श्रीप्रत्यभिज्ञा में भी उत्पलदेव ने चिदानन्दघन, परमाक्षरस्वरूप समस्त ग्राह्य समूह को अन्तर्हित किये हुये परम शिव का ऐसा ही वर्णन किया है। इस तरह की स्थिति ग्रहण किये योगी को ऐसा स्फुरण होता है कि न मैं हूँ, न कोई दूसरा है, न कोई ध्येय ही है। प्रत्युत् आनन्द पद में संलीन मन समरसत्ता को प्राप्त हो जाता है।[5] आत्मा सर्वमय है, क्योंकि यह भी संसार के सारे भावों के साथ संवेदनात्मक तादात्मय प्रासप्त करके उसकी सर्जना करती रहती है, यह परमसत्ता (परावाक्) सर्वमय है, चूँकि यह निजी संवेदन के द्वारा संसार के प्रत्येक भाव की सर्जना करता रहता है। जो पदार्थ अनुभव में आता है, वहीं संवेदन का विषय बन जाता है। यह परावाक् (परमसत्ता) किसी भी बाह्य पदार्थ का अनुभव करने के तत्काल ही, उसको अपने शरीर के रूप में ग्रहण कर लेता है। अतः इसका वही एक शरीर नहीं होता है, जिसके साथ सिर, पैर इत्यादि अंगों के चिन्ह लगे हुये हों।[6] अतः सारे वाचक और वाच्यरूप पदार्थों की संवेदनाओं की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं होती है, जो शिवरूप नहीं हो। वास्तविक स्थिति यह है कि प्रत्येक स्थान पर भोक्ता आत्मा (परावाक्, परमसत्ता) ही भोगय (प्रमेय) पदार्थों के रूप में उल्लसित होकर शाश्वत्रूप में वर्तमान रहती है।[7]

इस प्रकार सामान्यरूप से शैवमतानुसार परावाक् विषयक कथन के उपरान्त अब कुछ प्रमुख

---

1. (क) मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथा हि तत्। -तं॰ आ॰-1, पृ॰ 192.
   (ख) मोक्षस्य नैव किंचिद धामास्ति न चापि गनममन्यत्र अज्ञान ग्रन्थिभिदास्वशक्त्याभिव्यक्तता मोक्षः। -प॰ सा॰ का॰ - 60.
2. तथाविधश्च अयं दरिद्रिः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव॥ -प्र॰ हृ॰ टी॰, सू॰-9.
3. नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत्। सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः॥ प्र॰ हृ॰ टी॰ 8/39.
4. त्वं त्वमेवाऽमेवाहं त्वमेवासि न चास्म्पयस्म्। अहं त्वमितयुभौ न स्तौ यत्र तस्मै नमो नमः॥ -प्र॰ हृ॰ टी॰ 8/39.
5. (क) सर्वथा त्वन्तशलीनान्तः तत्त्वौधनिर्भरः। शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः॥ -ई॰ प्र॰- 4/1/14.
   (ख) ना हमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते। आनदपदसंलीन मनः समरसीगतम्॥ ने॰ तं॰- 8/40.
6. सर्वात्मक एवायमात्मा सर्वानुभावोत्पत्तिद्वारेण अनुभूयमानस्यैव संवेदनात् बाह्यार्थमनुभूतमानमेव शरीरत्वेन गृह्णति, न तु शिरः पाण्यादिलक्षितम् एकमेवास्य शरीरम्। -स्प॰ का॰ वि॰, पृ॰ 118.
7. तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः। भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥ -स्प॰ का॰ 2/29.

आगम एवं सिद्ध पुरुषों के सन्दर्भ में विशेष वर्णन किया जा रहा है जो निम्न है :-

(क) स्वच्छन्दतन्त्र (ख) उत्पलदेव (ग) अभिनवगुप्त (घ) क्षेमराज (ङ) हेलाराज।

(क) स्वच्छन्दतन्त्र में परावाक् :

स्वच्छन्दतन्त्र के मतानुसार नाद, जो स्वयं अव्यक्त ध्वनिरूप है, आठ भेदों में व्यक्त है, ऐसा कहा जाता है। यह आठ व्यक्त नाद निम्नलिखित हैं[1] :-

(1) घोष (2) राव (3) स्वन (4) शब्द (5) स्फोट (6) ध्वनि (7) झाङ्कार (8) ध्वङ्कृति।

व्यक्त शब्द से लौकिक अभिव्यक्ति नहीं समझनी चाहिए। इस बात को स्वच्छन्दोद्योत में 'धर्मशिवाचार्य' की पद्धति को उद्धृत करते हुए आचार्य क्षेमराज ने स्पष्ट किया है — कि "कर्ण और अङ्गुलि के सहयोग से दीप्त वह्निजनित शब्द के सदृश सुना जाने वाला शब्द ही घोष होता है। उस घोष के अनन्तर कांसे के टूटने के तुल्य जो रूक्ष शब्द सुनाई देते हैं, उसे 'शव' कहा जाता है। शव के परे बांस की ध्वनि के समान तथा निर्वातप्रदेश में सौम्यवर्षा के अनुरूप नाद ही स्वन शब्दवाच्य होता है। आकाश में भ्रमरी रव के समान सम्पूर्ण शब्दों की जन्मभूमिरूप नाद को 'शब्द' की संज्ञा की गई है। वाक्य को स्फुटरूप से अवगत कराने वाला, वर्णभेद का अवभासक नाद ही स्फोट होता है। श्रोत्र को सुखद, अतितानधर्मी नाद को 'ध्वनि' कहते हैं। विपञ्ची (वीणा) के पाँचवें तार के आघात से जैसे शब्द होता है, ठीक वैसी ही ध्वनि होती है।[2] वीणा के सम्पूर्ण तारों के आहत होने पर जैसे स्तब्ध और मृदु निनाद होता है, झाङ्कार में भी वैसा ही देखा जाता है। चढ़े हुए मेघों की ध्वनि को समान घण्टानाद का अनुकरण करने वाला ध्वङ्कृत कहा जाता है। ये आठ प्रकार के नाद उस नवम महानाद के भेदमात्र हैं, जो सर्वत्र व्यापकरूप से विद्यमान हैं।

स्थूल, सूक्ष्म और परभेद से मध्यमा वाक् पुनः तीन प्रकार की होती है[3] —

1. स्थूल मध्यमा :

चमड़े से मढ़े हुए मृदंगदि में कराघात द्वारा जनित ध्वनि, स्थूल मध्यमा वाणी का विलास है। यह ध्वनि पश्यन्ती गत स्थूलता की अपेक्षा स्फुट होती है और वर्णादि विभाग के न होने से अस्फुट रूप भी होती है, यही कारण है कि इसे मध्यमा शब्द द्वारा बोधित किया जाता है। अविभक्त स्वरमय होने के कारण इसमें अनुरञ्जकता रहती है। तालात्मक अविभाग रूप वादन में लोगों के परितुष्ट करने की शक्ति होती है। यह परितोष, स्थूल, मध्यमा के द्वारा लोक में अनुभूत होती है।

---

1. (क) अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः। घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च॥
आङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिता। नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापदः स्मृतः॥
-स्व॰ तं॰ पटल॰ 11, श्लो॰-6, 7

(ख) श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः सम्प्रवर्तते। दीप्तवह्निस्वनाभासः स शब्दों घोष उच्यते॥
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिणः। भिन्नकस्यांनिभवो रूक्षः स रावः स्यात्तदन्तगः॥
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निवाते सौम्यवर्षवत्। स नादः स्वप्न इत्युक्तत्परः कथितो ह्यसौ॥
चतुर्थः स तु वै शब्दः सर्वशब्दभवारणिः। आत्मानं रावपन्नादः खे यथा भ्रमरीरवः॥
वाक्यस्य स्फुटतां छत्ते वर्णभेदावभासकः। स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्तृभिस्ततः॥
-स्व॰ तं॰ उ॰, पटल-11, पृ॰ 9

2. ततोऽतितानधर्मित्वान्नादः श्रोत्रसुखावहः। विपञ्चयाः पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नतः॥
यथा व्यज्यत आकाशे स षष्ठो ध्वनिसंज्ञितः। सर्वतन्त्रीसमाघाताद्वीणायामिव साधु यः॥
मृदुस्तब्धं निनदति झाङ्कारः सप्तमस्त्वसौ। घण्टानिनादानुकृतिः कदाचिद्व्यज्यतेऽन्यथा।
तुङ्गमेघध्वनिनिभः सोष्टमो ध्वङ्कृतः स्मृतः॥ -स्व॰ तं॰ उ॰, पटल-11, पृ॰ 9.

3. यत्तु चर्मावनद्धदि किञ्चित्तत्रैष यो ध्वनिः।
स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी॥ -तन्त्रा॰ तृ॰ आ॰, श्लो॰-241

2. सूक्ष्म मध्यमा :

वादन की इच्छा के अनुसन्धान को सूक्ष्म मध्यमा कहते हैं। यह वाणी संवेदनात्मक मात्र होती है।

3. परमध्यमा :

उपाधि (वादन की इच्छा) रहित चिदात्मक स्वरूप ही परमध्यमा वाणी होती है।

अक्रम शब्दब्रह्म, अर्थप्रतिपादन की इच्छा से, विवक्षा द्वारा उपलक्षित मनोविज्ञान का रूप ग्रहण करती है, बिन्दुनादसंज्ञक प्राणापानात्मक वायु के क्रम से उल्लसित होने पर वही मध्यमा वाणी के नाम से कही जाती है।[1]

वस्तुतः स्वच्छन्दतन्त्र में उन्मनान्त को ही कालहीनता माना गया है।[2] स्वच्छन्दतन्त्र की संगति भी निम्नांकित रूप से सम्भव है। क्रमात्मक — कार्यकारणादि सम्बन्धी तथा अक्रमात्मक — चित्र और ज्ञानादि सम्बन्धी सम्पूर्ण कलनाभास का साम्य — प्रकर्षापकर्षशून्यता ही काल है। यह काल उन्मना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी को काली नामक पराशक्ति भी कहते हैं।[3]

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि सम्पूर्ण विद्याओं और प्रणव से उपलक्षित समस्त मन्त्रों की उद्भव भूमि, संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करने वाली अव्यय महाविद्या माया से ऊपर विद्यमान होती है। माया भेद का उद्भव करने वाली होती है और यह शुद्धविद्या अभेद के उन्मीलन करने के लिए प्रथम सोपान के सदृश होती है। वागीश अर्थात् महेश्वर की शक्ति होने से यह परम देवी "वागीशी" कही जाती है। अ, क, च, ट, त, प, य और श — इन आठ वर्गों से भिन्न वह पूर्वोक्त विद्या ही मातृका मानी जाती है। वाच्यवाचकात्मक सम्पूर्ण विश्व का कारण होने पर भी पशुओं के निकट वह माता अज्ञात ही रहती है, इसीलिए मातृका के नाम से ख्यात होती है।[4]

सुप्रसिद्ध 36 तत्त्वों में, प्रारम्भ से गिनने पर शुद्धविद्या 5वां तत्त्व होती है। विश्व से अतीत या निष्फल तत्त्व है — 'परमशिव' इसकी सकल अवस्था ही शिवतत्त्व होता है। यह तत्त्व स्पन्दहीन परमशिव का प्रथम स्पन्द होता है। निष्फल परम शिवावस्था में शक्ति पूर्णतया घुली-मिली रहत है। वहाँ अहं और इदं अथवा विषयी और विषय का भेद नहीं रहता है। वह स्वरूपविश्रान्ति अथवा आनन्द की अवस्था होती है। इसको परासंवित् के नाम से भी बोधित किया जाता है, यही परनाद है। सदाशिवतत्त्व को नाद और ईश्वरतत्त्व को बिन्दु कहा जाता है। इसके अनन्तर नीचे शुद्धविद्या तत्त्व है, यहाँ अहं और इदं की समान स्थिति रहती है। शिवतत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्व में 'अहमिदं' विमर्श और ईश्वरतत्त्व में 'इदमहं' विमर्श होता है। शुद्धविद्या की स्थिति शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच में होती है, अतः इसे परापर दशा, अथवा भेदाभेद दशा भी कहते हैं।

स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि बाहर का काष्ठात्मक काल ही आध्यात्मिक अहोरात्र है। पन्द्रह

---

1. आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया। उदमध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरूत्क्रमात्॥
2. ऊर्ध्वमुन्मनसो यत्र तत्र कालो न विद्यते उन्मन्यन्ते परे योज्यो न कालस्तत्र विद्यते॥ स्व० तं०, प० 11, 4/311, 286.
3. (क) स कालः साम्संज्ञश्च जन्ममृत्युमयापहः। —स्व० तं०, प० 11, श्लो० 309.
   (ख) क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते। काली नाम पराशक्तिः सैवदेवस्य गीयते॥ तं० आ० 6/7.
4. (क) अथोपरि महविद्या सर्वविद्याभवोद्भवा। जगतः प्रलयोत्पत्तिविभूतिनिधिरव्यया॥
   सा एव परमा देवी वागीशीति निगद्यते। अष्टवर्गविभिन्ना च विद्या सा मातृकैव तु॥
   —स्व० तं० प० 10, श्लो० 1142, 1143.
   (ख) अकचटतपयशैरष्टाभिर्वर्गैर्भिनना न त्वभिन्ना अनाहतपरामर्शमयत्वने भिन्न
   अशेषविश्वावभासभाजो मन्त्रानुन्मीलयेत् अतएव च इयं मातृका वाच्यवाचका-
   शेषविश्वहेतुत्वेऽपि पशुभिस्तथात्वने अपरिज्ञाता माता। —स्व० तं० उ०, पृ० 484.

निमेषों की एक काष्ठा होती है, जो काल का अव्ययविशेष होता है। तीस काष्ठाओं की एक कला मानी जाती है और बाह्य कला ही आध्यात्मिक मास है, जिसमें प्राणचार के तीन अहोरात्र होते हैं।

बाहर की एक घड़ी आध्यात्मिक बाहर मास अथवा एक वर्ष होती है।[1] इतने काल में ही तीन सौ साठ प्राणापानचार घटित होते हैं। बाह्यघटिका में आध्यात्मिक साठ चषक और एक चषक में छह प्राणापानचर देखे जाते हैं। बाहर की साठ घड़ी अथवा अहोरात्र में प्राणचार सम्बन्धी साठ संवत्सर कहे गये हैं। साठ घड़ी वाले बाह्य अहोरात्र में इक्कीस हज़ारछः सौ प्राणचार होते हैं। प्राणसंख्या के अनुसार ही जपसंख्या भी होनी चाहिए तभी मन्त्रोदय सम्भव होता है।[2]

(ख) उत्पलदेव के मत में परावाक् :

आचार्य उत्पलदेव पश्यन्ती में ज्ञानशक्तिरूपता को उपचरित मानते हैं।[3] परावाणी शब्द की चरम अवस्था होती है। इसी को अतिक्रम करके परब्रह्म अथवा परमशिव पदवी की उपलब्धि होती है। पूर्ण होने के कारण इसे 'परा' कहते हैं।[4] समस्त विश्व के आस्वादात्मक चमत्काररूप प्रत्यवमर्श द्वारा कथन करने के कारण इसे 'वाक्' की संज्ञा दी गई है।[5] यह कथन संकेत निरपेक्ष, अविच्छिन्न चमत्कार अर्थात् निज भोग परामर्शात्मक, अन्तर्मुखशिरोनिर्देश स्वरूप एवं अकारादि मायीय सांकेतिक शब्द का जीवनभूत होती है। यह परावाणी, चिद्रूप, स्वात्मविश्रान्त 'अहं' इस रूप में नित्य उदित परमात्मा के मुख्य स्वातान्त्र्य रूप से अनन्यापेक्ष होकर वर्तमान रहती है। अन्यनिरपेक्षता और स्वरसवाहिता ही आनन्द, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य और चैतन्य है। देश, काल से अविशिष्ट यह वाणी स्वतः सिद्ध महासत्ता के नाम से कही जाती है।[6] इसे परमेष्ठी परमशिव का परमान्त्रात्मक विमर्शरूप हृदय कही जाती है। मन्त्र ही समग्र का हृदयभूत होती है। विमर्श के अतिरिक्त मन्त्र का और कोई स्वरूप नहीं, और विमर्श परावाङ्मय होता है और सार भी।[7] संसार का जो सार है वही परावाक्रूप मालिनी शक्ति भी होती है। जगद्रूप अंकुर के लिए कन्दात्मक होने के कारण यह परावाक् कारण बिन्दु को

---

1. अध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते। मासेनाध्यात्मिकेनैव बाह्ये चैव कला भवेत्॥
तत्र त्रिंशदोरात्रा मासस्तु वश्वर्णिनि। मासैर्द्वादशभिश्चैव बाह्येऽथ घटिका भवेत॥
शतानि त्रीण्यहोरात्राः षाष्टरेव तथाधिका। वर्षमेतत्समाख्यातं बाह्यं वै घटिका च सा॥
घटिकाः षष्टिस्त्वहोरात्रे बाह्ये तु प्रवहन्ति वै। ता एवान्तरचारेण षष्टिः संवत्सरा स्मृताः॥
प्राणसंख्यां पुनस्तेषु कयिाम्यधुना तव। षट्शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः॥
अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे। प्राणसंख्या समाख्याता ज्ञातव्या साधकेन तु॥
—स्व॰ तं॰, प॰ 7/50, 51, 52, 53, 54, 55
2. षट्शतानि दिवरात्रं सहस्राण्येकविंशतिः। जयो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः॥ वि॰ भै॰ तं॰, श्लो॰ 156.
3. पश्यन्तीति दर्शनप्राधान्यात् उपचरितज्ञानशक्तिरूपत्वेप्याश्रीयमाणे परमशिवरूपताया अत्यन्तदूरवर्तिनी, न तु पर्यन्तदशासौ, ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूपतवात् परापरव्यवस्थात्र। सदाशिवरूपत्वे च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता। —शि॰ दृ॰ वृ॰, द्वि॰ आ॰, पृ॰ 37.
4. पूर्णत्वात् परा — ई॰ प्र॰ वि॰, पृ॰ 205, 1 अ॰, 5 आ॰.
5. वक्ति, विश्वम् अपलपति प्रतयवमर्शेन इति च वाक्।
6. (क) चमतो भुञ्जानस्य करणं संरम्भः, अहमसौ नीलादेर्भोक्ता इति चमत्कारः।
अनुपचरितस्य संवेदनरूपतानान्तरीयकत्वेनावस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसनैकघनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार उच्यते। —ई॰ प्र॰ वि॰ टिप्प॰, पृ॰ 205.
(ख) यथा कश्चित स्वकृतं शिरः कम्पेन निर्दिशति।
(ग) अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्यं, चैतन्यं च। —ई॰ प्र॰ वि॰, पृ॰ 107.
7. सा स्फुरता महासत्ता देशकालविशेषिणी। सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ —ई॰ प्र॰ अ॰ 4, आ॰

नाम से उल्लिखित हुई है। स्वप्रतिष्ठ होने से यह शब्दब्रह्मरूप परावाणी निःस्पन्द मानी जाती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ यहाँ समष्टिरूप में विद्यमान रहती हैं। परावाणी में वर्तमान प्रकाशांश को अम्बिका और विमर्शांक को शांता कहा जाता है।[1] इसी परावाणी में सम्पूर्ण वाच्य-वाचक-वैचित्र्य मयूराण्डरस के सदृश अनभिव्यक्त रूप में अभेदापन्न होकर विद्यमान रहती हैं

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः' द्वितीय पटलगत प्रपञ्चसार के उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए पद्मपादाचार्य ने कहा है — मूल शब्द का अर्थ है जगन्मूलभूत परिणामिनी मायाशक्ति और उसके आधारभूत चिदात्मा को मूलाधार कहते हैं। शरीरगत मूलाधार भी सर्वगत चिदात्मा की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण मूलाधार कही जाती है। इससे उत्पन्न चेतन्याभास और मायाशक्त्यात्मक भाव 'परावाक्' है।

अभिवनगुप्त के मत में परावाक् :

आचार्य अभिनवगुप्त पश्यन्ती, महापश्यन्ती तथा परम महापश्यन्ती की चर्चा करते हैं।[2] अभिनवगुप्त के मतानुसार सदशिवेश्वर दशा महापश्यन्ती है। 'गृहात् निः सरामि' आदि परामर्श मायाप्रमातृ (जीव) गत पश्यन्ती को बोध कराते हैं। परममहापश्यन्ती ही 'परावाक्' है। पश्यन्तीवाणी में, ग्राह्य और ग्राहकगत अभिधान और अभिधेय का देश और कलाकृत क्रम, स्फुट रूप से नहीं रहता है। क्योंकि पश्यन्ती दशात्मक विमर्श निर्विकल्पक स्वभाव वाला होता है। स्वयं अक्रम होने के कारण अविभक्त एवं अन्तर्लीन क्रमात्मक विभाग को आच्छादिक करके अवस्थित रहता है। ग्राह्य और ग्राहक से उत्पन्न क्रम इसके द्वारा अथवा इसमें अन्तः सङ्कुचित रहते हैं, अतः इसे प्रतिसंहतक्रम कहते हैं। 'सरः' 'रसः' आदि पदों तथा 'देवदत्त तुरग' आदि वाक्यों का क्रमसङ्कोचनात्मक पिण्डीकरण जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, वह पदवाक्यात्मक अभिजन्य (शब्दन) सूत्रात्मक शरीरधारी होने के कारण 'सूक्ष्म' कही जाती है। प्रतिसंहृतक्रमा एवं सूक्ष्म, यह पश्यन्ती वाक् इच्छशक्ति रूप मानी गई है।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त ने सिद्धयोगीश्वरी के मतानुसार आनन्दात्मिका विसर्गशक्ति को ही शब्दराशि या मातृका के नाम से कहा जाता है। ब्रह्म अर्थात् जिसे प्रकाश कहा गया है, वही 'अ' वर्ण का द्योतक अनुत्तर पद होता है और 'ह' वर्ण ही विसर्ग होता है। इन दोनों का संघट्ट 'अहं' होता है। परा तेजरूप अनुत्तर को अकुल अथवा 'शिव' कहा जाता है और उस प्रभु की परा कौलिकी नाम शक्ति ही विसर्ग होती है।[4] अकुल और कौलिकी शब्द द्वारा बोध्य अथवा अकार-हकार द्वारा संकेतित शिव-शक्ति के संघट्ट को आनन्दशक्ति कहा जाता है जिससे विश्व का निर्माण होता है। इसे सार, हृदय और विसर्ग कहा जाता है। देवीयामलग्रन्थ में कालर्षिणी, महाडामरक याग में श्रीपरा तथा श्रीपूर्वशास्त्र में मातृसद्भाव के नाम से इसका वर्णन किया गया है।[5] यह पराशक्ति ही प्रतिभा देवी है — "तां परां प्रतिभां देवी सङ्गिरन्ते ह्यनुत्तराम्" अकुलधाम शिव की विसर्गशक्ति सर्वत्र विद्यमान है उसी से आनन्दरस का उन्मेष होता है।[6]

गीता आदि के विषय में, व्यक्ति की जो एकतानता और हृदय में परिस्फुरणरूपता है, यही आनन्द शक्ति होती है, जिसके महात्मय से जड़ जन भी सचेत कहा जाता है। लोक में भी

1. आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला। अम्बिकारूपमापन्ना परावाक्समुदीरिता॥ —यो॰ हृ॰, श्लो॰ 36.
2. ई॰ प्र॰ वि॰, पृ॰ 195-197, 1 आ॰ 5 वि॰
3. द्रष्टव्य, ई॰ प्र॰ वि॰, पृ॰ 179
4. अनुत्तरं परं धाम तदेववाकुलमुच्यते। विसर्गस्तस्य नायस्य कौलिकी शक्तिरूच्यते॥ तं॰ आ॰, तृ॰ आ॰, श्लो॰ 143.
5. तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः। आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते॥
   परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते। तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः॥
   देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी। महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा॥
   श्री पूर्वशास्त्रे सा मातृसद्भावत्वेन वर्णिता। —तं॰ आ॰, तृ॰ आ॰, श्लो॰ 67, 68, 69, 70.
6. विसर्गशक्तिर्या शम्भोः सेत्थं वर्तते। तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः॥ —तं॰ आ॰, तृ॰ आ॰, श्लो॰ 208.

आनन्दातिशय के भोक्ता को ही सहृदय कहा जाता है।[1] इस प्रकार पारमेश्वरी कौलिकी आदि शब्दों द्वारा बोध्य विसर्गशक्ति उन-उन आदर्शों अथवा रूपों में स्फुरित होती है।[2] यही जीवभूत, 'चिदात्मिका कुण्डलिनी' भी कही जाती है, जिससे ध्रुव, इच्छा और उन्मेष अर्थात् अकार, डकार और उकार – यह त्रिक तथा वैसर्गिकी कला 'ह' पर्यन्त समस्त वर्ण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह विसर्गशक्ति विश्व का कारण होती है। ऐतरेयाख्य वेदान्त तथा गीता में भी यही बात कही गई है।[3] इस विसर्गशक्ति को ही शब्दराशि अथवा मातृका कहा जाता है।[4]

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परात्रिंशिका' में अहन्ता और इदन्तात्मक शुद्ध विद्या को स्वरूप बताया है। माया से ऊपर महामाया विद्यमान होती है जिसे 'शुद्धमहाविद्या' मातृका अथवा 'वागीश्वर' कहा जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार हृदयदेश से द्वादशान्त तक पूर्वोक्त प्राणचार के बीच वर्णों का उदय होता है और यह प्रादुर्भाव अयत्नज अथवा स्वाभाविक रूप में ही होता है।[5] केवल मन्त्रोदय यत्नज माना जाता है क्योंकि योगी को जो मन्त्र अभिप्रेत होता है, उसी का उदय वह प्रयास द्वारा सिद्ध करते हैं। वर्णोदय पर, सूक्ष्म और स्थूल-भेद से तीन प्रकार का होता है। परवर्णोदय भी 'परतर' और 'परतम' दो भेदों में विभक्त होती है। सूक्ष्म के भी तीन भेद होते हैं—

1. सूक्ष्म 2. सूक्ष्म-सूक्ष्म 3. सूक्ष्मस्थूल।[6]

1. परतम वर्ण :

हृदय देश में एक ही अखण्ड वर्ण, सब वर्णों का अविभागात्मक रूप, सतत उच्चरित होने के कारण 'अनाहत' शब्द द्वारा कहा जाता है। यह नादात्मक वर्ण सर्वदा उदित रहता है और कभी भी अस्त नहीं होता।[7] इसे ही भैरवसद्भाव अथवा मातृसद्भाव के नाम से जाना जाता है। यही परा एकाक्षर देवी होती है, जिसमें सम्पूर्ण चराचर जगत् लीन रहता है।[8]

---

1. तथा हि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके॥
माध्यस्थविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता। आनन्दशक्तिः सैगेक्ता यतः सहृदयो जनः॥ गी० अ० सं०, अ० 8, श्लो० 209, 210.
2. तदेवं पारमेश्वरी कौलिकी – आदिशब्दव्यपदेश्या।
विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्फुरतीति तात्पर्यार्थः॥ —तं० आ० वि०, पृ० 206.
3. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ —गी० अ० सं०, अ० 8, श्लो० 3.
4. सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका॥
तज्जं ध्रवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः। आ इत्यवर्णादित्यादि यावद्वैसर्गिकी कला॥
विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता। ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेशेन विस्तरात्॥
शब्दराशिः स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता॥ —ई० प्र०, श्लो० 220, 221, 226, 232.
5. (क) अमी चाकाराद्याः स्थितिमन्तः प्राणे तुटिषोडशकादिस्थित्या एकां तुहिं सन्धीकृतयार्द्धार्धभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पञ्चदशदिनात्मककालरूपतां तन्वते – इति तिथयः कलाश्चोक्ताः। —परा० वि०, पृ० 200.
(ख) प्राणचारेत्र यो वर्णपदमन्त्रोदयः स्थितः। यत्नजोऽयत्नजः सूक्ष्मः परः स्थूलः स कथ्यते॥ तं० आ०, 6, श्लो० 216.
6. इह पुनर्वर्णोदय एवायत्नजः परसूक्ष्मसूलात्मतया त्रिप्रकारोऽभिधीयते।
तत्र परस्यापि वर्णोदयस्य तरतमभावेन द्वैविध्यम्॥ —विवेक, पृ० 177-76, आ० 6.
7. (क) एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्। सोऽनस्तमितरूपत्वाद् अनाहत इहोदितः॥ तं० आ० 6/217.
(ख) तुलनीय – ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणिशब्दो वाणी यस्मात्प्रभवति परा शब्दतन्मात्रगर्भा। —सू० सं० व्या०, पृ० 351, यज्ञवै० अ० 4.
(ग) ओमितिस्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङमयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यतपरं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥ —वि० भै० उ०, पृ० 37.
8. स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्॥ —तं० आ०, 6/218.

2. परतर वर्णोदय :

प्राणवाह के सूर्यपथ पर बारह-बारह अंगुल के क्रम से अ, इ, उ इन ह्रस्व स्वरवर्णों का उदय होता है और चन्द्रपथ पर आ, ई और ऊ स्वरों का उदय होता है। अट्ठारह अंगुलों पर ए, ओ और ऐ, औ, इन सन्ध्यक्षरों का उदय होता है। द्वादशान्त में ऋ, ललाट, ग्रीवा और हृदय में क्रमशः ॠ, लृ और लॄ का जन्म होता है। प्राण के सम्पूर्ण प्रवाह में बिन्दु का और अपान के प्रवाह में विसर्ग का प्रवाह देखा जाता है। अकार का जो अभ्युदय स्थान होता है वही कवर्ग का एवं इकारादिकों के समानस्थानीय चवर्गादिक भी होता हैं यद्यपि सस्थानीय होने के कारण सकार का उदय स्थान दन्त है और हकार का कण्ठ, किन्तु प्राणात्मक जीवन रूप होने के कारण सकार, हृदय में उदित होता है और हकार प्रकाशात्मक होने के कारण सर्वत्र है।[1]

सूक्ष्म-सूक्ष्म :

अपानवाह के चन्द्रपथ पर सोलह स्वरों एवं समान-स्थानीय वर्णों का उदय होता है तथा प्राणवाह के सूर्यपथ पर षण्ढ स्वरों से रहित स्वर वर्ण एवं सस्थानीय वर्ण उदित होते हैं। इस प्रकार अपान-मार्ग में सवा दो अंगुल पर और प्राण मार्ग में तीन अंगुल पर वर्णों का उदय होता है। यह सूक्ष्म वर्णोदय के भी अन्तर्गत सूक्ष्म उदय होता है।

सूक्ष्मस्थूल वर्णोदय :

इस विभाग में वर्णों की इक्यासी अर्धमात्राओं का परिणगन किया जाता है। मतंगतन्त्र में इन मात्राओं को समुदितरूप में एकादशीतिपदा (81) देवी के नाम से कहा जाता है। यह शिवात्मिका शक्ति होती है। क्षकार की गणना करने पर इसकी तीन मात्रायें और बढ़ जाती है, इस प्रकार कुल चौरासी (84) मात्रायें होती हैं। 'क' से लेकर 'ह' तक तैंतीस (33) व्यंजन वर्णों की तैंतीस (33) अर्धमात्रायें, ह्रस्व स्वरों की दश, दीर्घस्वरों की बत्तीस (32) और प्लुत वर्णों की छह (6), इस प्रकार इक्यासी (81) अर्धमात्राएँ होती हैं। छत्तीस अंगुल के प्राणचार में प्रति चार अंगुल में नौ-नौ अर्धमात्राओं की कलना से इक्यासी अर्धमात्राओं का उदय होता है।

सूक्ष्म वर्णोदय :

हृदयदेश में अकार और द्वादशान्त में हकार का उदय होता है। यही प्रत्याहार क्रम से अशेष वर्णों को अपने गर्भ में लिए हुए 'अहं' स्वरूप अद्वैततत्त्व होता है जिसे प्रकाश की आत्मविश्रान्ति कहा जाता है।[2]

स्थूल वर्ग तथा स्थूल वर्णोदय :

आन्तर-प्राणीय दिन के आधे-आधे प्रहर में एक-एक वर्ण का उदय होता है। प्रत्येक वर्ण के पृथक्-पृथक् उदय के लिए दो सौ सोलह (216) प्राणचार अवश्यक होते हैं। इस प्रकार संकलन करने पर पचास वर्णों के उदय में दश हज़ार आठ सौ प्राणचार हो जाते हैं।

---

1. ह्रस्वार्णत्रयमेकैकं ख्यङ्गुलमथेतरत्। प्रवेश इति षड्वर्णाः सूर्यन्दुपथगाः क्रमात्॥
इकारोकारयोरादिसन्धौ सन्ध्यक्षरद्वयम्। ए ओ इति प्रवेशे तु ऐ औ इति द्वयं विदुः॥
षण्ढाणानि प्रवेश तु द्वादशान्तललाटयोः। गले हृदि च बिन्द्वर्णविसर्गौ परितः स्थितौ॥
कादिपञ्चकमाद्यस्य वर्णस्यान्तः सदोदितम्। एवं सस्थानवर्णानामन्तः सा सार्णसन्ततिः॥
हृद्येष प्राणरूपस्तु सकाशे जीवनात्मकः। बिन्दुः प्रकाशों हार्णश्च पूरणात्मतया स्थितः॥
उक्तः परोऽयमुदयो......................। —तं॰ आ॰, 6/ श्लो॰ 219, तः 223.

2. हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः। अहमात्मकमद्वैतं यः प्रकाशात्मविश्रमः॥ तं॰ अ॰ 6/ श्लो॰ 238.

क्षेमराज के मत में परावाक् :

आचार्य क्षेमराज ने 'श्रीपूर्वशास्त्र' नामक ग्रन्थ को स्पन्दसन्दोह में उद्धृत करते हुए शक्ति के पर, परापर और अपर — ये तीन भेद बताये हैं, जिन्हें क्रमशः अघोर, घोर और घोरतर के नाम से कहा जाता है।[1] ब्राह्मी आदि शक्तियों को योगिनीहृदय में 'योगिनी' कहा गया है।[2]

मातृका शक्ति ही वर्गाष्अक में प्रविष्ट होकर ब्राह्मी आदि योगिनी रूप ग्रहण करती हैं। समुदित रूप में इसे 'अष्टकेश्वरी' कहा जाता है। योगिनीहृदय के अनुसार अष्टमातृकाओं की आकृति का विवरण इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है :-

1.	ब्रह्माणी	पीतवर्णा, चतुर्मुखी, वरदा और अभयमुद्रायुक्तहस्ता, कुण्डिका तथा अक्षमालाधारिणी।
2.	माहेश्वरी	श्वेतवर्णा, त्रिनेत्रा, शूलधारिणी, कपाल, मृग और परशु लिए हुए।
3.	ऐन्द्री	श्यामवर्णा, वज्र और उत्पलधारिणी।
4.	कौमारी	पीतवर्णा, वरदाभयहस्ता, शक्तितोमरधारिणी।
5.	वैष्णवी	श्यामवर्ण, शङ्ख, चक्र, वर, अभय और पद्मधारिणी, दिव्यभूषणभूषिता।
6.	वाराही	श्यामलकान्ति, वज्र, चक्र, हल, मुशल, खडग, खेटक धारण करने वाली।
7.	चामुण्डा	कृष्णवर्णा, दक्षिण करों में शूल, डमरू, खड्ग, वेतालक धारण करने वाली। वाम करों में नाग, खेटक, घण्टा तथा कपाल धारण करने वाली।
8.	महालक्ष्मी	पीताभा, पद्म, दर्पण और मातुलुङ्गफल धारण करने वाली।

हेलराज के मत में परावाक् :

महावैयाकरण हेलराज ने 'वाक्यपदीय' के तृतीयकाण्ड की टीका का मङ्गलाचरण करते हुए कहा है — "जिसके सम्मुख आते ही प्रकाशात्मक पुरुष की अभिनव रूचिर महिमा, मन के अन्तराल में निकट रूप से स्फुरित होती है और विषयास्वाद से असम्पृक्त होने पर भी जो शाश्वत, परम-तृप्ति प्रदान करता है, तेज और आनन्द के अमृत से परिपुष्ट उस प्रातिभ वपु की मैं स्तुति करता हूँ।"[3]

परावाणी अथवा प्रतिभात्मक तुरीय तत्त्व का तुरीयातीव तत्त्व से सम्बन्ध बताते हुए उत्पलदेव तथा अभिनवगुप्त ने निर्म्नांकित विवरण प्रस्तुत किया है — 'प्रतिभाति घटः' घट प्रतीत होता है — आदि स्थलों में प्रतिभानात्मकक्रिया, यद्यपि विषय का आलिङ्गन करती हुई दिखाई देती है किन्तु यह क्रिया उस विषय की अपनी ज्योति नहीं होती है। संवेदन मात्र ही होती है, जो कि प्रमातृनिष्ट होती है। 'मां प्रतिभाति' इस रूप में स्फुरित होती है। 'श्रुति' के मतानुसार 'भान्तं' इस शब्द द्वारा अतितुर्य तत्त्व की सतत् प्रकाशशीलता तथा 'अनुभाति' के 'अनु' शब्द द्वारा अतितुर्य तत्त्व के स्वतन्त्र्य से रचित निर्माणक्रिया से उत्पन्न वेद्य-वेदकभाव रूप सम्बन्ध द्योतित होता है।[4]

'आत्मसंश्रया' इसकी संवित् — विश्रान्तता प्रतिभा शब्द द्वारा ही सिद्ध होती है। केवल विषयोल्लेख के अनुषङ्ग से संवेदनातमकप्रतिभान, क्रम और यौगपद्यादि धर्मों को धारण करती है। अतएव बीज, अङ्कुर, काण्ड, शाखा आदि कर्मों ताि 'ये गायें' आदि में दुष्ट अक्रम या युगपद्भावों से

---

1. विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून्। रूद्राणून्याः समालिङ्गच घोरतर्योऽपराः स्मृताः॥
मिश्रकर्मफलासविंत पूर्ववज्जनयन्ति याः। मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्धोराः परापराः॥
पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः। पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः॥ स्प० सं०, पृ० 21.
2. वर्गाष्टकनिविष्टाभिः योगिनीभिश्च संयुता। योगिनीरूपमास्थाय राजते विश्वविग्रहा॥ यो० हृ० मं० सं०, द्वि० प०, श्लो० 61.
3. तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। —कठ० उप०, 5/15.
4. पश्यन्तो रूपमालेख्यात् भातो भानुनुषङ्गियत्।
प्रतीपभानं प्रतिभा भावानामात्मसंश्रया॥ —ई० प्र० वि०, अ० 7, वि० पृ० 339.

विचित्ररूप पदार्थों का ईश्वर-स्वातन्त्र्यरूप देश-काल-शक्ति से उत्थापित क्रम अथवा देश, काल परिपाटी से (रूषित) — ऊपरक्त प्रतिभा ही सब के लिए सर्वदा स्वप्रकाश तथा अन्तर्मुखरूप में देशकालकलना हीन होने के कारण अक्रम कही जाती है ओर यह अक्रमा प्रतिभा परप्रमाता महेश्वर से भिन्न नहीं होती।[1]

बाहर जो कुछ भी आभासित होता है, उसका आन्तरिक अवभास ही आत्मा अथवा प्रमता होता है, वही स्वभाव और ऐश्वर्य है। तात्पर्य यह है कि — बाह्य वस्तु के दर्शन के अवसर पर पहले बाह्य क्रमिक घट प्रकाश होता है अनन्तर इन दोनों का विश्रान्ति स्थान शुद्ध अहं प्रत्यवमयर्शात्मकप्रकाश स्फुरित होता है। यही अक्रमा प्रतिभा होती है और मुख्य प्रमाता भी।[2]

विभु की परावाणी या प्रतिभारूवविमर्शशक्ति भिन्न-भिन्न संवेद्यों में प्रतिभात होकर मायाशक्ति द्वारा ज्ञान, संकल्प और अध्यवसाय आदि नामों द्वारा कही जाती है। नाना संवेद्यों से सम्बद्ध देश-काल के अनुराध से ज्ञान स्मृति आदि भी सक्रम प्रतीत होते हैं। वेदक और संवेद्य भी पृथक् नहीं होते। सम्पूर्ण संवेद्यों या ज्ञेयों को प्रकाशात्मक परमशिव अपने विमर्शात्मकस्वतन्त्र्य से आत्माभिन्नरूप में प्रकट करते हैं :- आत्मा को ही ज्ञेय बनाते हैं[3] और विमर्शात्मक स्वातन्त्र्यरूपप्रतिभा अथवा परावाणी ही परमशिव की शक्ति होती है[4], जिससे वे शक्तिमान् कहे जाते हैं।

---

1. (क) या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
 अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ —ई॰ प्र॰ 1, अ॰ 7, आ॰, श्लो॰ 1.
 (ख) देशकालादिपरिच्छेदविरहितसंवित्स्वभावः प्रमाणप्रमितिसमूहस्य यथारूचिसंयोजनादिकरणस्वातन्त्र्ययुक्तः शुद्धाहम्प्रत्यवमर्शमयः कल्पितेश्वराणां ब्रह्मविष्णवादीनां स्वांशाभिषेकोपकल्पितैश्वर्यो महेश्वरः प्रमाता। सा च प्रतिभा अनपह्नवनीय॥ —ई॰ प्र॰ वि॰, पृ॰ 340, अ॰ 17 वि॰
2. यत्किञ्चिदाभासते, तस्य अन्तर्मुखं यदवभासनं, स आत्मा प्रमाता, स एव च स्वभावतः तदेव च ऐश्वर्यमिति सम्बन्ध। —ई॰ प्र॰ वि॰, अ॰ 1 वि॰ 7, पृ॰ 340.
3. द्रष्टव्य। ई॰ प्र॰, अ॰ 1 आ॰ 5/श्लो॰ 18, 21, 25.
4. यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
 स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभा शिवाम्॥ —ध्व॰ लो॰ लो॰, प्र॰ उ॰

चतुर्थ अध्याय

शिवदृष्टि में परावाक् का स्थान

"शिवदृष्टि" काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन का एक अत्युत्तम दार्शनिक ग्रन्थ है। इसकी रचना आचार्य सोमानन्द द्वारा की गई है। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम अक्षपाद गौतम आदि तार्किकों की भाँति उपयुक्त तर्कों के आधार पर शिवाद्वैत मत को दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रस्तुत कर न केवल कश्मीर अपितु इसके बाहर भी इसका प्रचार-प्रसार किया। यह कृति पूर्णरूप से अद्वैत मत का समर्थन करने वाली है। यहाँ 'शिव' से तात्पर्य 'परमसत्ता' और 'दृष्टि' का अर्थ 'दर्शन' है। अतः 'शिवदृष्टि' शीर्षक अद्वैत – शैवदर्शन की उस सम्पूर्णता का द्योतक है, जिसका विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। इसमें शिव अर्थात् परावाक् (परमसत्ता) के सम्बन्ध में अद्वैत दृष्टिकोण अपनाया गया है और उसका वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत प्रस्तुतीकरण किया गया है। इसमें सात आह्निक हैं और सात सौ के लगभग श्लोक हैं। महामहेश्वर आचार्य उत्पलदेव ने इस पर वृत्ति लिखी है, किन्तु दुर्भाग्यवश यह वृत्ति मात्र तृतीय आह्निक तक ही पूर्ण एवं चतुर्थ आह्निक के 74वें श्लोक तक ही उपलब्ध है, शेष अनुपलब्ध है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त द्वारा रचित 'शिवदृष्ट्यालोचन' नामक एक और टीका की भी चर्चा मिलती है, किन्तु खेद की बात यह है कि वह अभी तक अनुपलब्ध है। इस पर स्वयं सोमानन्द ने भी वृत्ति लिखी है, किन्तु वह वृत्ति भी अनुपलब्ध है। इस कृति में स्वयं शिव द्वारा स्वप्न में प्रदत्त ज्ञान का ही शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान के माध्यम से विकास किया गया है। यह बात सर्वविदित है कि देवताओं की बात के यथार्थ ज्ञान का रहस्य अत्यन्त कठिन होता है, जो जन साधारण की पहुँच का विषय नहीं होता। केवल ज्ञानीजन ही इससे लाभान्वित होते हैं। इसलिए हम ज्ञान को सर्व-सुलभ बनाने के उद्देश्य से ही सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' की रचना की, ताकि साधारण पाठक भी इससे लाभ उठा सकें। इसमें विश्व की शिवमयता, शिव की सर्वसमर्थता और आत्मा-परमात्मा की एकता का मण्डन मिलता है। बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, पशु-पाश और पति में एक परमार्थ सत्ता शिव की सर्वव्यापकता और आत्मा-परमात्मा और पति में एक परमार्थ सत्ता शिव की सर्वव्यापकता दिखलाई गई है। परमत खण्डन में ईर्ष्या आदि की अपेक्षा सत्तर्क को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। शाक्तमत को अन्य मतों में श्रेष्ठ एवं अद्वैत शैवमत का ही अभिन्न अङ्ग माना गया है, तथा शक्ति की अपेक्षा शिव को मधानता देना इसकी विशेषता है। 'शिवदृष्टि' सात आह्निकों में विभक्त है, जिनका विषय इस प्रकार है —

प्रथम आह्निक :

प्रथम आह्निक में सर्वप्रथम अपने शिवात्म सवरूप के प्रति नमस्कार के अनन्तर बताया गया है कि संसार के समस्त पदार्थों में शिवतत्त्व ही स्फुरित होता है। उसकी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया पाँच प्रमुख शक्तियाँ मानी गई हैं और वे ही सर्वत्र इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप में प्रकाशित होते रहते हैं। समस्त पदार्थों में शिवतत्त्व ही स्फुरित होता है। अतः यह विश्व भी उन्हीं का रूप माना गया है। विश्वमय स्थिति में आने के लिए उन्हें किसी भी अन्य ब्राह्य कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्युत् अपने अन्तः स्थित को ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उल्लसित करते हैं अर्थात् अपने ही वैभव के प्रभाव से जब वह उल्लसित होता है, तब उसकी वह स्थिति औनमुख्य अथवा उच्छूनता कहलाती है। इस उच्छूनता का किञ्चित् विस्तार ही उसकी इच्छाशक्ति, ज्ञान और क्रिया उसी

उल्लास के विस्तृत और स्थूलतर स्वरूप हैं। इच्छा शक्ति से वह स्वयं को रूपवान् बनाता है, ज्ञानशक्ति से सदाशिव, क्रियाशक्ति से ईश्वर और इसी प्रकार अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों से वह मन्त्रमहेश्वर आदि, अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उस प्रमोदात्मा परमशिव का यह कृत्य मात्र उसकी क्रीड़ा है। मूलतः सभी पदार्थ पूर्णशिवस्वरूप हैं। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल होकर शिव स्थूलता वाले माने जाते हैं। जिस प्रकार गाय के स्तन से दूध निकलने के बाद तत्काल ही गाय का विकास माना जाता है और उससे भिन्न माना जाता है, ठीक इसी प्रकार यह विश्व भी शिव की इच्छा से ही शिव के द्वारा उत्पन्न होकर भिन्न प्रतीत होता है। वास्तव में जैसे दूध गाय से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार यह शिव भी शिव से भिन्न नहीं है।[1] शिव को पूर्णानन्द स्वरूप युक्त माना गया है। विमर्श शक्ति को इसका स्वभाव माना गया है। इस शक्ति के बिना यह जड़ अथवा अनीश्वर हो जाएगा। इस विमर्शन शक्ति के पाँच स्वरूप माने गये हैं — चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसके बिना शिव और शिव के बिना यह शक्ति नहीं रह सकती। इस प्रकार दोनों का ऐक्य होने पर ही परमशिव को पूर्ण माना जाता है। इस शक्ति में उन्मेष होने पर ही सृष्टि होती है और निमेष होने पर प्रलय होता है तथा जिस समय उसकी तीनों शक्तियाँ समरस अवस्था में रहती हैं, तब यह उसकी चिद्रूपाह्लादस्वरूप निर्विभाग परमविश्वोत्तीर्ण अवस्था होती है।

इस प्रकार वह भगवान् परमसत्ता ही निरपेक्ष अखण्ड ज्ञानस्वरूप परनिर्वृति अर्थात् आनन्दात्मा माना गया है। वही निर्वृति मायाशक्ति के कारण स्वयं उससे आवृत होकर जगन्निर्माण की इच्छा के पूर्वभागरूप उन्मुखता को प्राप्त होता है और फिर वही आनन्दस्वरूप परनिर्वृति इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में प्रकट होती है, फिर वही शक्त्यात्मक शरीर से लेकर नारकीय शरीर तक भौतिक रूप में आविर्भूत हो जाती है। पृथिवीपर्यन्त पदार्थ की सृष्टि के रूप में वही आनन्दज्ञानघन भगवान् प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार सर्वत्र मूलरूप में आत्मा स्वरूप द्वारा स्थित है।[2] इस भूतात्मक सृष्टि में परमशिव पाँच रूपों में ज्ञान का अधिकरण बनकर रहा करते हैं। प्रथम अवस्था में ग्राह्यग्राकरूप भेदज्ञान रहता है, जो कि सामान्य मनुष्य की स्थिति है। दूसरी अवस्था शुद्ध शिव की है, जिसमें ग्राह्यग्राहक का क्षोभ नहीं रहता है, तीसरी अवस्था में वह क्लेश कर्म विपाक आशय से अपरामृष्ट योग का ईश्वर होकर दूसरों को अपने जैसा होने की प्रेरणा देता है। चतुर्थ अवस्था में स्वरूपबोध होता है और प्रभुत्वभाव भी हट जाता है, किन्तु बन्धन रहता है। पञ्चम अवस्था विज्ञानात्मक होती है।

इस प्रकार योगिजनों की अपनी इच्छा के द्वारा अनेक प्रकार की रूपात्मक वस्तुएँ घर, द्वार इत्यादि बन जाती है और वहाँ परमेश्वर की इचछा के अतिरिक्त मिट्टी आदि कोई दूसरा साधन नहीं रहता है। इसी प्रकार परमेश्वर की इच्छामात्र से ही यह विश्व प्रकट होता है। इस प्रकार सभी जड़ चेतन सर्वत्र सभी तत्त्व शिवरूप ही हैं और वही नीररूप भी है, वही निर्वृति अर्थात् कार्यावच्छिन्ना औनमुखता भी रखता है। वही इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों शक्तियों की योग्यता रखता है। सर्वत्र चैतन्य रूप में उसी की सत्ता है। इस प्रकार परमशिव से लेकर घट, पट, मठ आदि पर्यन्त समस्त पदार्थों में शिवत्व समान रूप में विद्यमान रहता है। वस्तुतः समस्त पदार्थ पूर्ण शिवस्वरूप माने जाते हैं। पर, अपर आदि का भेद मात्र अविद्या के कारण माना जाता है। अनेकरूपात्मक होते हुए भी सब

---

1. यथा सर्वपदार्थों भवगवच्छिवरूपता।
   तद्वद् वागिन्द्रियस्यापि न पुनः सा परा दशा॥ —शि॰ दृ॰, आह्नि॰ 2/79
2. अथ शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते। युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः शक्तिदशा यतः॥
   तथा तद्व्यपदेशश्चेद् व्यपदेशः शिवात्मकः। न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी॥ शि॰ दृ॰, आह्नि॰ 3/1, 2

कुछ परमशिवस्वरूप होने के कारण सर्वथा सत्य है।[1]

द्वितीय आह्निक :

द्वितीय आह्निक में वैयाकरणों के मत का व्याख्यान करके उसका खण्डन किया गया है। वैयाकरण लोग पश्यन्ती को ही 'परावाक्' या शब्दब्रह्म स्वीकार करते हैं। वही अक्षय परमब्रह्म शब्दरूप स्वीकार किया गया है। उसी को भोक्ता के रूप में ज्ञेयरूप से रहित चैतन्यमात्र आत्मा के द्वारा समस्त शरीरों में व्यापकरूप से रहता हुआ शरीर के भीतर भोगों को भोगने वाला अभिव्यक्त किया गया है।[2] वही परमात्मा अभ्यास के प्रकर्ष से अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर समस्त विश्व का एक साथ दर्शन करने में समर्थ हो जाता है और उसी समय उसके विषय में इन्द्रियों का व्यापार रुक जाता है, देश, काल की सीमा भी समाप्त हो जाती है तथा उपक्रम और उपसंहार, ग्राह्य और ग्राहक इत्यादि द्वन्द्व से रहित वह ब्रह्मतत्त्व परकाष्ठा अर्थात् अन्तिम स्थिति को प्राप्त कर लेता है और वही अन्तिम तत्त्व पश्यन्तीरूप है। वही पश्यन्तीरूप वाला आत्मतत्त्व जब अर्थबोध कराने की इच्छा से युक्त होता है, तब मनोविज्ञान के रूप में वर्तमान वह प्राण और अपान वायु अथवा बिन्दु और नाद के उल्लास से मध्यमावाक् कहलाता है। अतः वस्तुओं के व्यवहार के सम्बन्ध में वैयाकरों का यह कथन है कि आदि अन्तरहित अक्षरशब्द तत्त्वरूप ब्रह्म समस्त संसार के पदार्थों के रूप में अतात्विक भाव से परिणत होता रहता है और इसी से संसार का सृष्टिक्रम भी चलता है।[3] संसार के व्यवहार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है, जो वाचक शब्द के बिना भी निष्पन्न होता हो।

सोमानन्द कहते हैं कि वैयाकरणों अनुसार वाणी को कर्मेन्द्रिय माना गया है और उसे अतिस्थूल माना गया है। इसलिए उसे ब्रह्म नहीं माना जा सकता क्योंकि जो इन्द्रियत्व वाणी में है, वही हाथ, पैर आदि में भी माना गया है।[4] वैयाकरणों अनुसार वैखरी के अतिरिक्त पश्यन्ती को अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है, इसलिए उसे ब्रह्म माना जाता है। पश्यन्ती को शुद्ध-स्वभाव वाला कहा गया है और मध्यमा को भेदग्राहिणी होने के कारण अविद्या-शबल माना जाता है।[5] जिस तरह एक ही स्फटिकमणि दर्पण, तैल, जल आदि अलग-अलग आधारों में अलग-अलग एवं अनेक रूपों में

---

1. (क) योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता।
   न चास्ति साधनं किञ्चिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः॥ —शि॰ दृ॰, अहि॰ 1/44
   (ख) तत्र मिथ्यास्वरूप चेत्स्याप्याऽग्रे सत्यतेदृशाम्। एवं सर्वेषु यथा सा शिवरूपता॥
   नीरूपता निर्वृतिर्वा शक्तित्रितयोगिता। सचित्त्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाऽग्रतः॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 1/46, 47
   (ग) एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम्।तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता॥ शि॰ दृ॰, आहि॰ 1/49
2. इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम्।तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥
   स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्त्तते।
   अन्तः पश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम्॥ —शि॰ दृ॰, अहि॰ 2/2, 3
3. तावद्यावत्परा काष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम्। अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम्॥
   सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम्। ब्रह्मतत्त्वं परा काष्ठा परमार्थस्तदेव सः॥
   आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया। मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरूत्क्रमात्॥
   संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठादिस्थानभागशः। वैखरी कथिते सैव बहिर्वासनया क्रमात्।।
   घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षरादिना। यस्मात्तैरुच्यते सद्भिरेवं वस्तुप्रवृत्तये॥ —शि॰ दृ॰, अहि॰ 2/4, 5-8
4. तद्विचाराय राद्धान्तः सम्प्रत्येष विधीयते। आदौ तावदिन्द्रियत्वे स्थिता वाव्ह कर्मसंज्ञिते॥
   तस्यात्मा ब्रह्मता वा वक्तुं शक्या न साधुभिः।
   इन्द्रियत्वेऽपि सामान्य पाव्यादेर्ब्रह्मता न किम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 2/12, 13
5. तत्रापि मध्यमा कस्य कार्यं पश्यन्त्यवस्थाया। सा जन्या हेतुना केन शबलां जनपेदरौ॥ शि॰ दृ॰, पृ॰ 41

अवभासमान होती है, उसी प्रकार एक ही पश्यन्ती आधारभेद के कारण अलग-अलग मानी जाती है। भर्तृहरि आदि स्फोटनित्यत्ववादी से भिन्न शब्दात्मा को नित्य मानते हैं।[1]

शिवाद्वैत मत में शिव की सम्पूर्ण शक्ति का ही विकास यह संसार होता है। अतः यह संसार शिवरूप होने के कारण शिव जैसा ही सत्य है, जबकि शब्दाद्वैत पक्ष में यह संसार विवर्त्त माना जाकर असत्य माना गया है। तथा व्याकरण के एक सम्प्रदाय का विचार है कि **"अनादिनिधनम्"** इस कारिका में 'शब्दतत्त्वम्' यह अंश तथा **'वाग्रूपताम्'** इस कारिका में **'परावाक्'** यह अंश दोनों मिलकर जो संश्लिष्ट रूप बनाते हैं, वही चरम तत्त्व होता है और उसमें शब्दतत्त्व ग्राह्य अर्थात् विषय है और वाक्तत्त्व ग्राहक अर्थात् कारण होता है। इस प्रकार दोनों का अभेद ही परमार्थतत्त्व होता है।

सोमानन्द वैयाकरणों के इस मत का खण्डन करते हुए पश्यन्ती को इन्द्रिय मात्र मानते हैं। पश्यन्ती को एक क्रिया स्वीकार किया गया है। पूर्व और पर उसके दो भाग माने गये हैं, जिस प्रकार घट बनाने वाले कुम्हार के मन में 'घट बनाना चाहिए' ऐसा इच्छारूप विचार पहले उठता है, उसी प्रकार की स्थिति यहाँ भी है। पश्यन्ती नाम उसकी सकर्मक क्रियावत्ता को प्रदर्शित करता है। "अविभाग तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा" इत्यादि वचन सर्वथा असंङ्गत हैं, क्योंकि पश्यन्ती नाम और उक्त लक्षण दोनों भिन्न-भिन्न हैं।[2] पश्यन्ती स्फोटरूप भी नहीं है, वास्तव में परमशिव की ज्ञानरूप शक्ति, जो शैवमत में सदाशिव कहलाती है एवं अर्थोत्पत्ति के समय मध्यमा और भेदमय व्यवहार के समय वैखरी कहलाती है। जिस प्रकार ज्ञान के आधारभूत समस्त पदार्थ चित् से भिन्न न होने के कारण शिवस्वरूप ही हैं, उसी प्रकार पश्यन्ती भी शिवस्वरूप हैं, वह परमतत्त्व नहीं हैं।[3] इस प्रकार सब कुछ शिवात्मक है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तृतीय आह्निक :

तृतीय आह्निक में शक्ति को ही परमतत्त्व परावाव् मानने वाले शाक्तसिद्धान्तवादियों के विषय में विचार प्रकट किया गया है। इस मतानुसार शक्ति को ही परमतत्त्व या चरमतत्त्व स्वीकार किया गया है। इस विषय में आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि जो लोग भक्ति के कारण शक्ति की परावस्था का गान करते हैं, वे लोग प्रकारन्तर से शक्तिमान देव शिव का ही प्रकाशन करते हैं, क्योंकि शिव और शक्ति में भिन्नता नहीं होती है, प्रत्युत् वे दोनों एक ही होते हैं। यदि स्त्रीलिङ्ग से भी परमशिव का ही व्यवहार माना जाता है, तो वह भी शिवात्मक ही है, क्योंकि शिव कभी भी शक्ति से रहित नहीं हो सकते और शक्ति के बिना शिव की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[4] चाहे द्वैत दर्शनों में शिव और शक्ति की भिन्नता स्वीकार की गई हो, लेकिन शैवदर्शन में तो इनकी अभिन्नता का ही प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार व्यवहार में देखा जाता है कि शीतलता हिम में पृथक् नहीं होती और उष्णता अग्नि से पृथक् नहीं होती, उसी प्रकार शक्ति भी शिव से पृथक् नहीं होती। शिव शक्तिमान् होने पर ही अपनी इच्छा से विश्व सृष्टि करते हैं, शक्ति रहित होने पर नहीं।[5]

---

1. अनन्तेऽवगयः कुत्र तेजस्त्वे शान्तता कथम्। —शि॰ दृ॰, अहि॰ 2/76
2. द्रष्टव्य, —शि॰ दृ॰ वृ॰, पृ॰ 232
3. यथा सर्वपदार्थानां भवगवच्छिवरूपता। तद्वद् वागिन्द्रियस्यापि न पुनः सा परा दशा॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 2/79
4. अथ शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते। युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः शक्तिदशा यतः॥
   तथा तद्व्यपदेशश्चेद् व्यपदेशः शिवात्मकः।
   न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी॥ —शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/1, 2
   शक्तेः स्वतन्त्रकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद् भवेत्। मुञ्चतोऽपि निजां शक्तिं स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापहेत्॥
5. न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्। —शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/6, 7

शैवदर्शन के अन्य विद्वान् जो यह मानते हैं — कि पश्यन्ती आदि वाणियाँ (वाक्) ही शिव के विकास क्रम में स्थित हैं और इस प्रकार समस्त विश्व शक्त्याद्वैत ही है, उक्त शैवसिद्धान्ती "नादे प्रलीनचिते....." इत्यादि के द्वारा वाणी को इन्दिय ही मानते हैं और उसके अध्याय से इष्टफल की प्राप्ति होने से उसी सूक्ष्ममन्त्रसदृश मानते हैं। शैवतन्त्र में "नादाख्यं यत्परं बीजम्" वाक्य के द्वारा नाद को पर तथा वाणी को अपर कहा गया है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वाक् का स्वामी पशुप्रमाता बद्धजीव है। उसके द्वारा किया गया कथन पतिप्रमाता का कथन नहीं हो सकता और जैसे कि पतिप्रमाता का कथन ही परतत्त्व हो सकता है। इसलिए पशुप्रमाता के द्वारा उच्चरित शब्द परतत्त्व नहीं हो सकती।[1] इस प्रकार समस्त, पदार्थों एवं भावों में शिव ही भासित होते हैं। जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि पिण्ड और कटक में सुवर्णत्व है, कुण्डल और केयूर में नहीं। प्रत्युत् सर्वत्र हमें सुवर्णतत्व भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होता है, ठीक इस तरह परम शिव भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों शक्तियों से अविष्ट होने से सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। अतः सब कुछ शिव ही है।[2]

योगी के समान ही परमशिव भी इच्छामात्र से समस्त भावजगत् एवं अनेक पशुरूप जीव को रूप में उल्लसित होता है। यह भावविकारमय जगत् उसकी दुग्धदधिवत् रूप जगत् को उत्पत्ति होती है। वास्तव में शिव और विश्व में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार जल और लहरों में अभेद होता है, जब जल लहर के रूप में परिवर्तित होता है, तो इसे जल नहीं लहर कहते हैं, किन्तु लहर में भी जल विद्यमान ही रहता है, उसी प्रकार भावजगत् के प्रकट होने पर भी परशिव की सत्ता जल के समान अक्षुण्ण ही है।[3] अतः परमशिव और विश्व में ऐक्य विद्यमान है। क्योंकि शान्तावस्था में भी शिवत्व रहता है और स्थूल जगत् के रूप में उल्लसित होने पर भी शिवत्व वर्तमान रहता है। जिस प्रकार अङ्गाररूप अग्नि में अग्नित्व रहता है और ज्वलन-क्रियाशील होने पर भी उसमें अग्नित्व रहता है, उसी प्रकार शिव भी उल्लासरूप भेद से युक्त होने पर भी शिव 'परावाक्' ही हैं।[4] इस विश्व में जो नानाविध वैचित्र्य दिखाई देता है, वह भी उस शिव का ही स्वरूप माना गया है, अर्थात् वह शिव ही अनेक रूपों में भासित होता है। वास्तव में सब कुछ एक शिव के द्वारा ही उपलब्ध होता है। परमशिव अपनी इच्छा से ही बिना किसी उद्देश्य के जगद्रूप में उल्लसित होता है। वही शास्त्रों का कर्त्ता अर्थात् गुरु माना गया है एवं शिष्य भी वही है और गुरु के द्वारा प्रबुद्ध भी वही होता है। शास्त्रों के अनुसार धर्म आदि अनुष्ठान को भी उसी के द्वारा किया जाता है और अनुष्ठान के सम्पन्न होने

---

1. इत्यनेन वर्णिताऽत्र वाच एव परात्मता। नैतत्र वाचः कथितं पतिशब्दस्य वर्णितम्॥
शब्दस्य विषयाख्यस्य न कदाचिदुदाहृतम्। —शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/12, 13
2. तथेच्छया समाविष्टस्तथाशक्तित्रयेण च। तथा-तथा स्थितो भावैरतः सर्व शिवात्मकम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/20
3. इच्छया सर्वभावत्वमनेकात्मत्वमेव च। नात्र स्वात्मविकारेण जनयेद् भावमण्डलम्॥
तदिच्छासामनन्तर्ये तथा भूतात्मता यतः। यथा न योगिनोऽस्तीह नानासैन्यशरीरकैः॥
विभागस्तद्वदीशस्य मध्योत्कृषनिकृष्टकैः। भावैर्नास्ति विभेदित्वमयवाऽम्बुधिकीचिवत्॥
तत्र कीचित्वमापन्नं न जलं जलमुक्यते। न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता॥
निश्चलत्वेऽपि हि जलं विचित्वे जलमेवतत्। वीचिभिस्तद् विशिष्टं चेत्तन्नैश्चल्यविशिष्टकम्॥
—शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/36, 36, 37, 38, 39
4. अङ्गाररूपे किं वह्निता न क्रियातमके। ज्वालादिकेऽथ साऽवस्था निष्क्रियाज्ञानरूपिणी॥
निरिच्छा न च शक्येत वक्तुमेवं कदाचन। अस्ति स्थितोऽसावेतस्यामवस्थायां शिवो यदि॥
—शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/47, 48

पर उसका फल भी उसके द्वारा ही भोगा जाता है। परमार्थतता वस्तु, अवस्तु, प्रमा, भ्रम आदि एकरूप शिवात्मक ही माना जाता है। धर्म, अधर्म सम्बन्धी सभी रूपों में वही स्थित माना जाता है। समवायी–असमवाणी एवं निमित आदि कारणों का वैचित्र्य होने पर भी एक शिव की ही विचित्रता को जानना चाहिए।[1] जिस प्रकार राजा एक होने पर भी उसकी आज्ञाएँ भिन्न होती हैं, उसी प्रकार शिव के एक होने पर भी उसका उल्लास भिन्न–भिन्न माना जाता है। परमशिव अकेला ही समवायी असमवायी और निमित्त तीनों रूपों में स्थित माना गया है। वह परमशिव स्वयं निमित्त कारण है और उकी इच्छा समवायी कारण और इच्छा के विषय घटादि के संयोग के रूप में वर्तमान वह शिव ही असमवायी कारण है, उसका ऐसा त्रिप्रकारक होना लोक व्यवहार के लिए ही है।[2] जिस प्रकार अनेक भिन्न–भिन्न ग्रन्थों आदि को बेचने वाले गन्धी के पास सभी पृथक् द्रव्यों की सुगन्ध क्रम, मात्रा आदि से रहित एक गन्ध के रूप में भासित होती है, ठीक उसी प्रकार परमशिव भी समस्त भावमय जगत् को देश, काल, क्रम वाच्यवाचक आदि से रहित एक रूप में देखता हुआ पूर्णरूप में स्थित रहता है।[3] इस प्रकार शक्तियों का मूलकारण शिव ही है। वह स्वतन्त्र है, अपरिमित है और उसकी इच्छा भी अपरिमित होने के कारण विकल्पशून्य है। वह ईश्वर स्वयं विश्व के रूप में अपना प्रसार कर अपने स्वरूप वैभव का आनन्द ठीक उसी प्रकार लेता है, जैसे कोई सुन्दरी अपने स्वरूप को अलंकृत कर अपने सौन्दर्य पर स्वयं आत्मविभोर हो उठती है।[4] इस प्रकार नयी–नयी इच्छाओं के उदय का कोई कारण नहीं है, यह सब शिव के स्वभाव के कारण ही होता है, जिस प्रकार अनेक कीड़े–मकोड़ों में एक ही चेतनता विद्यमान होती है, उसी प्रकार नानाचित्रों में भी एक ही शिवातमक चैतन्य विद्यमान रहता है और समस्त विश्व को शिवात्मक ही माना गया है अर्थात् व्यवहारजगत् में जो कुछ हो रहा है, वह सब उनकी इच्छाशक्ति का लीलाविलास है।

चतुर्थ आह्निक :

चतुर्थ आह्निक में बताया गया है कि विश्व के समस्त पदार्थों की शक्ति परतन्त्र है, केवल परमशिव की शक्ति ही स्वतन्त्र है। संसार में समस्त शक्तिमान् पदार्थ सापेक्ष माने जाते हैं, केवल एक परमशिव ही घट, पट आदि अनेक सवभाव वाली शक्तियों से अभिन्न शक्तिमान् एवं निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र माने जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक व्यक्ति में वर्तमान शक्ति दूसरे व्यक्ति में वर्तमान कम शक्ति की प्रतिबन्धिका होती है और संसार में अपने कार्य के प्रति सभी पदार्थ समर्थ होते हैं। जैसे जलानयन में घट, तैलोत्पादन में तिल आदि समर्थ होते हैं। जहाँ शक्ति होती है, वहीं पर प्रतिबन्ध भी देखा जाता है। यदि प्रत्येक पदार्थ की शक्ति स्वतन्त्र होती, तो न तो अधिक शक्तिमान् कम शक्तिमान् को रोकता और न ही तिल से तेल निकालने के लिए किसी व्यक्ति या यन्त्र की आवश्यकता होती।[5] अतः जगत् में सब कुछ शक्तिमान् होते हुए भी सापेक्ष है। जैसे कि द्वैवदर्शन में ईश्वर मोह अर्थात् मायातत्त्व की अपेक्षा रखकर उन्हें मोक्ष देने या उन पर अनुग्रह करने में प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार हमारे अद्वैत दर्शन में भी नाना प्रकार की विचित्र स्वभाववाली शक्तियों

---

1. अथ चित्रत्वमत्रास्ति भावपुञ्जे न तच्छिवे। शिवस्य तत्स्वरूपत्वं वैचित्र्यं यत् परस्परम्॥
अपेक्ष्य भाववैचित्र्यं तस्य तेभ्यो विचित्रता। सर्वं शिवात्मकं यद्वत् कथनीयमिहाग्रतः॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/60, 61
2. समवापि तदिच्छैव तद्योगः सहकारणम्। तस्यैव वा त्रिरूपत्वं व्यपदेशात्तथाविधम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/81
3. यतो गान्धिकसौगन्ध्यवत्पश्यन्नविकल्पकः। सत्यानि स्वात्मरूपाणि पश्यतो न समानता॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/86
4. सरन्त्येव स्वभावेन तत्सरत्प्रकृतिः शिवः। ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य केनेच्छा वा विकल्प्यते॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/94
5. इष्यन्ते बहवः शक्ताः सर्वस्वातन्त्र्यमापतेत्। अथैकस्याधिकाशक्तिर्न्यूनशक्तिनिबन्धिनी॥
स्वकार्यविषये सर्वः शक्त एव निबन्धनम्। शक्तस्य शक्यते कर्त्तुमेवं चेन्नान्शक्तता॥शि॰ दृ॰, अहि॰ 4/2, 3

शैवदर्शन के अन्य विद्वान् जो यह मानते हैं — कि पश्यन्ती आदि वाणियाँ (वाक्) ही शिव के विकास क्रम में स्थित हैं और इस प्रकार समस्त विश्व शक्त्याद्वैत ही है, उक्त शैवसिद्धान्ती "नादे प्रलीनचिते....." इत्यादि के द्वारा वाणी को इन्दिय ही मानते हैं और उसके अध्याय से इष्टफल की प्राप्ति होने से उसी सूक्ष्ममन्त्रसदृश मानते हैं। शैवतन्त्र में "नादाख्यं यत्परं बीजम्" वाक्य के द्वारा नाद को पर तथा वाणी को अपर कहा गया है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वाक् का स्वामी पशुप्रमाता बद्धजीव है। उसके द्वारा किया गया कथन पतिप्रमाता का कथन नहीं हो सकता और जैसे कि पतिप्रमाता का कथन ही परतत्त्व हो सकता है। इसलिए पशुप्रमाता के द्वारा उच्चरित शब्द परतत्त्व नहीं हो सकती।[1] इस प्रकार समस्त, पदार्थों एवं भावों में शिव ही भासित होते हैं। जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि पिण्ड और कटक में सुवर्णत्व है, कुण्डल और केयूर में नहीं। प्रत्युत् सर्वत्र हमें सुवर्णतत्व भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होता है, ठीक इस तरह परम शिव भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों शक्तियों से अविष्ट होने से सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। अतः सब कुछ शिव ही है।[2]

योगी के समान ही परमशिव भी इच्छामात्र से समस्त भावजगत् एवं अनेक पशुरूप जीव को रूप में उल्लसित होता है। यह भावविकारमय जगत् उसकी दुग्धदधिवत् रूप जगत् को उत्पत्ति होती है। वास्तव में शिव और विश्व में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार जल और लहरों में अभेद होता है, जब जल लहर के रूप में परिवर्तित होता है, तो इसे जल नहीं लहर कहते हैं, किन्तु लहर में भी जल विद्यमान ही रहता है, उसी प्रकार भावजगत् के प्रकट होने पर भी परशिव की सत्ता जल के समान अक्षुण्ण ही है।[3] अतः परमशिव और विश्व में ऐक्य विद्यमान है। क्योंकि शान्तावस्था में भी शिवत्व रहता है और स्थूल जगत् के रूप में उल्लसित होने पर भी शिवत्व वर्तमान रहता है। जिस प्रकार अङ्गाररूप अग्नि में अग्नित्व रहता है और ज्वलन-क्रियाशील होने पर भी उसमें अग्नित्व रहता है, उसी प्रकार शिव भी उल्लासरूप भेद से युक्त होने पर भी शिव 'परावाक्' ही हैं।[4] इस विश्व में जो नानाविध वैचित्र्य दिखाई देता है, वह भी उस शिव का ही स्वरूप माना गया है, अर्थात् वह शिव ही अनेक रूपों में भासित होता है। वास्तव में सब कुछ एक शिव के द्वारा ही उपलब्ध होता है। परमशिव अपनी इच्छा से ही बिना किसी उद्देश्य के जगद्रूप में उल्लसित होता है। वही शास्त्रों का कर्त्ता अर्थात् गुरु माना गया है एवं शिष्य भी वही है और गुरु के द्वारा प्रबुद्ध भी वही होता है। शास्त्रों के अनुसार धर्म आदि अनुष्ठान को भी उसी के द्वारा किया जाता है और अनुष्ठान के सम्पन्न होने

---

1. इत्यनेन वर्णिताऽत्र वाच एव परात्मता। नैतत्र वाचः कथितं पतिशब्दस्य वर्णितम्॥
   शब्दस्य विषयाख्यस्य न कदाचिदुदाहृतम्। —शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/12, 13
2. तथेच्छया समाविष्टस्तथाशक्तित्रयेण च। तथा-तथा स्थितो भावैरतः सर्व शिवात्मकम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/20
3. इच्छया सर्वभावत्वमनेकात्मत्वमेव च। नात्र स्वात्मविकारेण जनयेद् भावमण्डलम्॥
   तदिच्छासामनन्तर्ये तथा भूतात्मता यतः। यथा न योगिनोऽस्तीह नानासैन्यशरीरकैः॥
   विभागस्तद्वदीशस्य मध्योत्कृषनिकृष्टकैः। भावैर्नास्ति विभेदित्वमयवाऽम्बुधिकीचिवत्॥
   तत्र कीचित्वमापन्नं न जलं जलमुक्यते। न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता॥
   निश्चलत्वेऽपि हि जलं विचित्वे जलमेवतत्। वीचिभिस्तद् विशिष्टं चेत्तन्नैश्चल्यविशिष्टकम्॥
   —शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/36, 36, 37, 38, 39
4. अङ्गाररूपे किं वह्निता न क्रियातमके। ज्वालादिकेऽथ साऽवस्था निष्क्रियाज्ञानरूपिणी॥
   निरिच्छा न च शक्येत वक्तुमेवं कदाचन। अस्ति स्थितोऽसावेतस्यामवस्थायां शिवो यदि॥
   —शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/47, 48

पर उसका फल भी उसके द्वारा ही भोगा जाता है। परमार्थतता वस्तु, अवस्तु, प्रमा, भ्रम आदि एकरूप शिवात्मक ही माना जाता है। धर्म, अधर्म सम्बन्धी सभी रूपों में वही स्थित माना जाता है। समवायी-असमवाणी एवं निमित आदि कारणों का वैचित्र्य होने पर भी एक शिव की ही विचित्रता को जानना चाहिए।[1] जिस प्रकार राजा एक होने पर भी उसकी आज्ञाएँ भिन्न होती हैं, उसी प्रकार शिव के एक होने पर भी उसका उल्लास भिन्न-भिन्न माना जाता है। परमशिव अकेला ही समवायी असमवायी और निमित्त तीनों रूपों में स्थित माना गया है। वह परमशिव स्वयं निमित्त कारण है और उकी इच्छा समवायी कारण और इच्छा के विषय घटादि के संयोग के रूप में वर्तमान वह शिव ही असमवायी कारण है, उसका ऐसा त्रिप्रकारक होना लोक व्यवहार के लिए ही है।[2] जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न ग्रन्थों आदि को बेचने वाले गन्धी के पास सभी पृथक् द्रव्यों की सुगन्ध क्रम, मात्रा आदि से रहित एक गन्ध के रूप में भासित होती है, ठीक उसी प्रकार परमशिव भी समस्त भावमय जगत् को देश, काल, क्रम वाच्यवाचक आदि से रहित एक रूप में देखता हुआ पूर्णरूप में स्थित रहता है।[3] इस प्रकार शक्तियों का मूलकारण शिव ही है। वह स्वतन्त्र है, अपरिमित है और उसकी इच्छा भी अपरिमित होने के कारण विकल्पशून्य है। वह ईश्वर स्वयं विश्व के रूप में अपना प्रसार कर अपने स्वरूप वैभव का आनन्द ठीक उसी प्रकार लेता है, जैसे कोई सुन्दरी अपने स्वरूप को अलंकृत कर अपने सौन्दर्य पर स्वयं आत्मविभोर हो उठती है।[4] इस प्रकार नयी-नयी इच्छाओं के उदय का कोई कारण नहीं है, यह सब शिव के स्वभाव के कारण ही होता है, जिस प्रकार अनेक कीड़े-मकोड़ों में एक ही चेतनता विद्यमान होती है, उसी प्रकार नानाचित्रों में भी एक ही शिवातमक चैतन्य विद्यमान रहता है और समस्त विश्व को शिवात्मक ही माना गया है अर्थात् व्यवहारजगत् में जो कुछ हो रहा है, वह सब उनकी इच्छाशक्ति का लीलाविलास है।

चतुर्थ आह्निक :

चतुर्थ आह्निक में बताया गया है कि विश्व के समस्त पदार्थों की शक्ति परतन्त्र है, केवल परमशिव की शक्ति ही स्वतन्त्र है। संसार में समस्त शक्तिमान् पदार्थ सापेक्ष माने जाते हैं, केवल एक परमशिव ही घट, पट आदि अनेक सवभाव वाली शक्तियों से अभिन्न शक्तिमान् एवं निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र माने जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक व्यक्ति में वर्तमान शक्ति दूसरे व्यक्ति में वर्तमान कम शक्ति की प्रतिबन्धिका होती है और संसार में अपने कार्य के प्रति सभी पदार्थ समर्थ होते हैं। जैसे जलानयन में घट, तैलोत्पादन में तिल आदि समर्थ होते हैं। जहाँ शक्ति होती है, वहीं पर प्रतिबन्ध भी देखा जाता है। यदि प्रत्येक पदार्थ की शक्ति स्वतन्त्र होती, तो न तो अधिक शक्तिमान् कम शक्तिमान् को रोकता और न ही तिल से तेल निकालने के लिए किसी व्यक्ति या यन्त्र की आवश्यकता होती।[5] अतः जगत् में सब कुछ शक्तिमान् होते हुए भी सापेक्ष है। जैसे कि द्वैवदर्शन में ईश्वर मोह अर्थात् मायातत्त्व की अपेक्षा रखकर उन्हें मोक्ष देने या उन पर अनुग्रह करने में प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार हमारे अद्वैत दर्शन में भी नाना प्रकार की विचित्र स्वभाववाली शक्तियों

---

1. अथ चित्रत्वमत्रास्ति भावपुञ्जे न तच्छिवे। शिवस्य तत्स्वरूपत्वं वैचित्र्यं यत् परस्परम्॥
   अपेक्ष्य भाववैचित्र्यं तस्य तेभ्यो विचित्रता। सर्वं शिवात्मकं यद्वत् कथनीयमिहाग्रतः॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/60, 61
2. समवापि तदिच्छैव तद्योगः सहकारणम्। तस्यैव वा त्रिरूपत्वं व्यपदेशात्तथाविधम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/81
3. यतो गान्धिकसौगन्ध्यवत्पश्यन्नविकल्पकः। सत्यानि स्वात्मरूपाणि पश्यतो न समानता॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/86
4. सरन्त्येव स्वभावेन तत्सरत्प्रकृतिः शिवः। ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य केनेच्छा वा विकल्प्यते॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 3/94
5. इष्यन्ते बहवः शक्ताः सर्वस्वातन्त्र्यमापतेत्। अथैकस्याधिकाशक्तिर्न्यूनशक्तिनिबन्धिनी॥
   स्वकार्यविषये सर्वः शक्त एव निबन्धनम्। शक्तस्य शक्यते कर्त्तुमेवं चेन्नाऽशक्तता॥शि॰ दृ॰, अहि॰ 4/2, 3

के साथ अभेद सम्बन्ध से विद्यमान एक ही परमशिव अनन्त विश्वरूप में सर्वत्र स्थित है। इस प्रकार समस्त पदार्थों में चित्स्वरूप शिव की स्फुरत्ता है और सब जगह परमशिव ही स्थित है। यदि कहा जाए कि ज्ञान तो सर्वज्ञ होता है और मिथ्याज्ञान (रज्जु-सर्प) आदि की सत्ता का जो आभास होता है, वहाँ भी ज्ञान तो होता ही है क्योंकि ज्ञान सर्वत्र होता है, तो फिर मिथ्या और यथार्थ भेद कैसे संगत होगा? अद्वैतवादी इसके उत्तर में कहते हैं कि यह भेद केवल व्यवहार जगत् का सत्य परमसत्य नहीं होता। जिस प्रकार राजा के आदेश से कागज़ के नोट पर भी व्यवहारजगत् में रुपये का काम चलता है, जबकि नोट यथार्थ वस्तु नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार के लिए मिथ्य-यथार्थ आदि का भेद परमशिव की इच्छामात्र से चल रहा है।[1] क्योंकि व्यवहारात्मक रूप से तो यह जगत् सत्य है किन्तु परमार्थतः तो शिव ही सत्य है और कुछ नहीं। समस्त विश्व को शिवरूप माना गया है और उसकी उत्पत्ति भी सत् के द्वारा ही होती है। सत् के रूप में वही परमशिव पहले से शक्तिमान् कर्त्ता के रूप में विद्यमान रहता है और समय पाकर प्राणियों के अदृष्ट वंश स्वयं को कर्म के रूप में परिणत करता है। जिस प्रकार सत् पदार्थ घट आदि की अभिव्यक्ति नामक क्रिया को करता है उसी प्रकार पदार्थ रूप अभिव्यक्ति की भी क्रिया मानी जाती है और एक पदार्थ रूप कार्य के साथ अभिव्यक्ति रूप कारण भी अभिन्न होने के नाते समान माना जाता है। अभिव्यक्ति तो केवल उस पदार्थ की प्रकाशमानता मानी गई है। असत् की उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती। जैसे अंकुत को उत्पन्न किया जाता है किन्तु यदि वह असत् होता, तो उसमें जनन क्रिया नहीं हो सकती थी और कुम्हार के द्वारा घट को बनाया जाता है, यह कार्य भी सत् माना जाता है। परमशिव जिस-जिस भाव की अभिव्यक्ति की कल्पना करते हैं, उसी-उसी रूप में अपने को अभिव्यक्त भी करते हैं।[2] इस प्रकार कार्य सत् माना जाता है और अविनाशी होता है और कटक के नष्ट होने के बाद भी स्वर्ण शेष बचता है, उसी प्रकार पदार्थ को नष्ट होने पर भी शिव शेष रहते हैं और सब में वे अनुगत हैं। जिस तरह कटक के नाश और कुण्डल की उत्पत्ति दोनों में सुवर्ण तो जैसे का वैसे है, केवल संस्थान में भेद हो गया है। इसी प्रकार ठीक शिव भी सर्वत्र हैं, केवल अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में होती है।[3] इस प्रकार यह संसार न तो ईश्वर के द्वारा परमाणुओं से उत्पन्न किया जाता है और न ही ब्रह्म का विवर्त्त माना जाता है, प्रत्युत् शिव ही अपने स्वातन्त्र्य से नानाविध रूपों में उल्लसित होता है। इसी कारण यह संसार न तो क्षणिक माना जाता है और न ही स्फोट तत्त्वात्मक। सभी पदार्थों में एकमात्र शिव को ही व्यवस्थित माना जाता है।[4] यह समस्त संसार एक काफिले, सेना या वन की तरह है। जैसे काफिले का हर एक व्यक्ति पृथक् होता है या सेनाका हर सिपाही अलग होता है या फिर वन का हर एक वृक्ष भिन्न होता है, लेकिन फिर भी व्यवहार एक काफिला, एक सेना और एक वन का होता है। इसी प्रकार जगत् में भी सर्वत्र परमशिवात्मकसत्ता ही समस्त पदार्थों में व्यवस्थित है।

---

1. तथा च देश क्वचन राजाज्ञा जायते यथा। व्यवहारोऽस्तु दीनारैरेतैरव्यवहारगैः॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 4/10
2. किमाश्रित्य प्रवर्त्तन्ते तदभावस्वरूपतः। घटान्तरं पूर्वदृष्टमाकलय्याथ चेष्टनम्॥
   अन्येनान्यस्य कलनाऽसम्भवादतिचित्रता। अङ्कुरो जायत इति न भवेत्कारकात्मता॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 4/44, 45
3. शिवस्य भावनाशेऽपि मौलिनाशेऽपि हेमवत्। नाशः कटकरूपेण सद्भावः कुण्डलादिना॥
   सुवर्णत्वेऽपि न भ्रशंः संस्थानेऽपि विचार्यताम्। —शि॰ दृ॰, अहि॰ 4/54, 55
4. नामसंस्थानभेदश्चेद्धस्ते मुष्टयाद्यभेदिता। स्थितमेव हि सत्कार्यमत एवाविनाशिता॥
   शिवस्य भावनाशेऽपि मौलिनाशेऽपि हेमवत्। नाश कटकरूपेण सद्भावः कुण्डलादिना॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 4/53, 54

पञ्चम आह्निक :

पञ्चम आह्निक में बताया गया है कि विश्व के समस्त पदार्थ इच्छा, ज्ञान और क्रिया स्वभाव वाले माने जाते हैं और इच्छामर्श वाले सभी आत्मचेतना से युक्त, विकासशील आनन्दपूर्ण एवं मोक्ष को चाहने वाले माने जाते हैं।[1] शिवतत्त्व को तो सुखात्मक माना जाता है, लेकिन जहाँ दुःख दिखाई देता है, दख में भी उसी का विकास रहता है अर्थात् दुऽख होने पर भी जो धैर्य संयोग दुःख के साथ रहता है, वह धैर्य शिवतत्त्व के द्वारा ही होता है। दुःख प्रमोद, आलस्य आदि विषयों में बन्धन की दृष्टि रहती है और दुःख आदि से परिपूर्ण कीट-पतङ्ग आदि में धैर्य भी देखा जाता है। जहाँ दुःख आदि से छुटकारा मिलता है, वहाँ शिवतत्त्व परिस्फुटित हो जाता है। जैसे कि पूरे संसार को उस परमशिव का स्वातन्त्र्योल्लास माना जाता है।

अतः शिवस्वरूप मूर्त्तता हर जगह व्याप्त रहती है और भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में शिवतत्त्व ही विद्यमान् रहता है। अर्थात् जगत् को सम्पूर्ण पदार्थों में एवं हर जगह सर्वत्र शिव ही व्याप्त हैं, शिव से भिन्न कुछ नहीं है।[2] शिव ही अपनी शक्ति से कहीं स्थूल रूप में रहता है, तो कहीं सूक्ष्मरूप में स्थित रहता है। अतः समस्त संसार शिव में ही विद्यमान रहता है। किसी को किसी भी पदार्थ का, अनुमान या शब्द आदि किसी भी प्रमाण से, ज्ञान सम्भव नहीं है। चूँकि समस्त ब्रह्माण्ड सर्वज्ञ है, इसी कारण सघोजात शिशु जो कि दूध पीने की शिक्षा नहीं पाया है फिर भी दूध पीता है और माता के पेट में वर्तमान शिशु माता के द्वारा खाने-पीने, अन्न-जल के रस को ग्रहण करता है। कुत्ता, गाय, भैंस आदि प्राणी बिना शिक्षा ग्रहण किये भी नदी आदि पार कर जाते हैं। इन सब बातों से भी समस्त जगत् की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। इस प्रकार शिव ही नानारूपों में अपने को जानते हुए स्थित है, अर्थात् अब कुछ शिवरूप ही है, वह ही सर्वज्ञ माना जाता है।[3]

षष्ठआह्निक :

छठे आह्निक में वेदान्त, पाञ्चरात्र, जैन, साख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनों के परमसत्ता (परावाक्) सम्बन्धी सिद्धान्तों की अनुपयुक्तता प्रकट की गई है। अन्य विद्वान् आत्म-ब्रह्म को ही आदान स्वरूप होने के कारण विश्वरूप मानते हैं। कुछ लोग नेतिवादी माने जाते हैं, उनके अनुसार जिस ज्ञान में 'न' का अवार नहीं माना जाता है, उसी को ब्रह्म माना जाता है। अन्य स्फुलिङ्गात्मवादी माने जाते हैं। अन्य लोगों को प्रतिबिम्बात्मवादी कहाजाता है। उनका कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म ही अपना ज्ञान कराता है अर्थात् अपने को अपने से पृथक् जानता है, जिससे भेद की उत्पत्ति होती है।[4] कई लोगों का मत है कि आत्मस्वरूप ईश्वर ही क्रीड़ा करने के लिए

---

1. विभेदेष्वपि तदुव्याप्त्या भेदेष्वप्येकता स्थिता। इच्छावन्तः सर्व एव व्यापकाश्च समस्तकाः॥
   अमूर्त्ताश्व तथा सर्वे सर्वे ज्ञानक्रियात्मकाः। प्रभवश्च तथा सर्वे इच्छाऽऽमर्शास्तथाऽखिलाः॥
   सर्वे स्वात्मपरिच्छेदवन्तो नित्यमवस्थिताः। विकासाह्लादवन्तश्च सर्वे निर्वृतियोगिनः॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 5/4-6
2. नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नातेस्वयं शिवः। चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम्॥
   एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते। तेन सर्वगतं सर्व शिवरूपं निरूपितम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 5/109,110
3. सर्वज्ञत्वादशेषस्य तदहर्जातदारके। क्षीरादिके निगलनात् तदा कालेऽप्यशिक्षिते॥
   उदरस्थस्य च ग्रासग्रहणान्मातुरन्तरे। अशिक्षितानां तरणात् प्राणिनां निम्नगाजलात्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 5/99, 100
4. येऽन्ये वेदान्तविद्वांस आत्मब्रह्मैव विश्वताम्। यात्युपादानरूपत्वात् तथाऽन्ये भ्रान्तिरूपताम्॥
   विश्वं न सत्यरूपत्वं तथाऽन्ये त्वात्मवादिनः। भूतजीवपरात्मत्वं ये चान्ये नेतिवादिनः॥
   यस्यां प्रतीतौ नेत्यस्य प्रसरो न प्रवर्त्तते। तद् ब्रह्मेति वदन्त्येक ये स्फुलिङ्गात्मवादिनः॥
   प्रतिबिम्बतया चान्ये ये वा सर्गमुखे स्वयम्। ब्रह्मैव गृह्णात्यात्मानं ततो भेदोपपादनम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 6/8, 9-11

व्यवस्थित हुआ है, जैसे जलधारा में एक ही सूर्य अनेक दिखाई देते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक शरीर में आत्मा का भेद माना गया है। इन सभी सिद्धान्तों को द्वारा अविद्या की कल्पना को मानना ही पड़ता है और ब्रह्म से उसका सम्बन्ध भी माना जाता है एवं पदार्थों का असत्य मानना पड़ता है। इसी प्रकार पाञ्चरात्र वाले विद्वान् मानते हैं कि जो अन्य द्वारा ब्रह्म कहा जाता है, वही वस्तुतः वासुदेव है, उसी के द्वारा यह संसार-व्यवहार चलता है और वही संसार के ईश्वर माने जाते है।। विद्या और अविद्या के द्वारा वे सृष्टि किया करते हैं और विद्या के द्वारा जीवों की मुक्ति भी प्रदान करते हैं।[1] जैनदर्शन वाले तीर्थंकर को ही अपना ईष्ट स्वीकार करते हैं। उनके मत में भी अविद्या का संसार अथवा जीव से सम्बन्ध माना गया है। अविद्या का पूर्णक्षय होने पर जीव ईश्वर तुल्य समझे जाते हैं। सांख्य मत वाले आत्मा को स्वतन्त्र मानते हैं और उनमें भी जो निरीश्वरसांख्यवादी हैं, उनके मत में भी अविवेक नामक मल तो है ही, साथ में उन्होंने बन्ध-मोक्ष को भी मान्यता दी है। न्यायवैशेषिक मतानुसार ईश्वर को समस्त आत्माओं से पृथक् माना गया है एवं बन्ध और मोक्ष को भी ईश्वर से पृथक् ही स्वीकार किया गया है। विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को सत्य मानते हैं और वह बाह्य असत्यता को भी प्राप्त कर लेते हैं। जैसे — रज्जुसर्प स्थल में सर्प का ज्ञान हो जाने पर उत्तरकाल में असत्य माना जाता है, किन्तु काश्मीर अद्वैत दर्शन में केवल एक शिव (परावाक्) ही सर्वत्र विद्यमान माना जाता है। जिस प्रकार एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न आकार प्रकार वाले अङ्ग माने जाते हैं, अथवा एक ही आँख में अन्धत्व और पीड़ा आदि होती है, उसी प्रकार इस विचित्र ब्रह्माण्ड में एक ही परमशिव के द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण किया जाता है। जिस प्रकार इस संसार में एक ही व्यक्ति अनेक रूपों वाला बन जाता है, उसी प्रकार समष्टि रूप से एक होते हए व्यष्टि रूप से यहाँ विरूपता है और व्यष्टि की दृष्टि से शरीर बहुत होते हुए भी समष्टि की दृष्टि से वे सब एकरूपी माने जाते हैं। सर्वज्ञत्व आदि के रूप में तो सबके सब शिव रूप में ही इस संसार में विद्यमान माने जाते हैं, सभी व्यापक एवं आत्मज्ञान से युक्त माने गये हैं। इस प्रकार शैवमत में सर्वत्र शिवता परमसत्ता (परपवाक्) की स्थिति को ही स्वीकार किया गया है और समस्त पदार्थों में शिवतत्त्व ही व्यापक है।[2]

सप्तमआह्निक :

सातवें आह्निक में बताया गया है कि सब में अनुस्थूत निज शिवत्व स्वभाव की प्रतिपति का रहस्य और उससे प्राप्त होने वाली सर्वनिर्भरा आनन्दावस्था का निरूपण किया गया है। इस संसार में शिवतत्त्व को सर्वत्र विद्यमान माना गया है, चाहे वह किसी को ज्ञात हो या न हो।[3] इस शिवत्व की पहचान के लिए ही यहाँ उपायों का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम अनुपाय कहा जाता है। इसमें गुरु वाक्य के द्वारा अथवा शास्त्र के द्वारा एक बार प्रत्यभिज्ञा का ज्ञान कराया जाता है, जिससे जीव शिवभाव को प्राप्त हो जाता है। दूसरा शाम्भवोपाय है, इसमें साधक को विकल्परहित होना पड़ता है। निर्विकल्पक साधक की तीव्र इच्छामात्र से ही उसकी परावाक् रूपी इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो

---

1. सर्वेषामप्यविद्यैव कल्प्या ब्रह्मणि संगता। तथा भावेष्वसत्यत्वमित्यवश्यमवस्थितम्॥
पाञ्चरात्रविदचान्ये वदन्ति परिनिष्ठितम्। ब्रह्मास्ति वासुदेवाख्यं स एव जगदीश्वरः॥
विद्याऽविद्ये द्वयं चास्य साधनं समवस्थितम्। अविद्यया जगत् कुर्याद् मोक्षयेत् पशून्॥
2. एकस्यैवात्मनो यद्वदङ्गभेदो विचित्रता। युग (पद् बान्ध्य) पीडादिस्तद्वन्नानाशरीरता॥
स्थितेऽपि वाऽत्र नानात्वे कैवल्ये न विशेषता। एकोऽपि तत्र वैरूपो बहवोऽप्येकरूपिणः॥
सर्वज्ञत्वादिरूपेण सर्व एव शिवाः स्थिताः। व्यापकाश्च तथा सर्वे सर्व एवात्मसंविदः॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 6/118-120
3. अथ स्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधनोच्यते। तस्मिञ्ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते शिवत्वमनिवारितम्॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 7/1

जाती है और इस समावेश के बार-बार अभ्यास से ही शिवता की प्राप्ति होती है। तीसरा उपाय शाक्तोपाय है, जैसे कि हम जानते हैं कि सभी लोगों के लिए विकल्परहित होना बहुत ही कठिन है, इसलिए उनके लिए यह कहा गया है कि विकल्प करो परन्तु शुद्ध विकल्प करो। जैसे पूर्ण 'शिवभाव की भावना' कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही रूप है।[1] इस प्रकार साधक जब पुनः पुनः शिवभाव से देखते हुए शिवरूपता से उसकी अभेद प्रतीति में दृढ़ हो जाता है, तो उसका वह तदात्म्यभाव ही शाक्तोपाय से मुक्ति प्रदान करता है।[2] अन्त में आणवोपाय का स्वरूप कहा गया है, इसमें साधक रूप उच्चार आदि बाह्य वस्तु को आलम्बन मानकर विकल्प बुद्धि द्वारा उस पर अपने आपकी भावना करता है।[3] जैसे-जैसे इस भावना का विकास होने लगता है, उसे यह प्रतीत होने लगता है कि शिव की शक्ति ही सर्वत्र परिव्याप्त है और जड़-चेतन सभी उसी का स्फार ह।[4]

इस प्रकार सर्वत्र शिवभाव की प्रतीति होने से उसकी जड़रूपता का तिरोभाव हो जाता है और वह अपने विशुद्ध चैतन्य को पहचानकर शिवरूप हो जाता है। शिव को ही याग और शिव को ही याजक भी कहा गया है। जिस-जिस साधक के द्वारा इस जगत् में यज्ञ को किया जाता है, शिवत्व योजना के द्वारा उस उत्तम याग को शिव के द्वारा ही किया जाता है। शिरूपी आधार में शिव के द्वारा ही भोग भी कियाजाता है। इसी कारण "शिव को ही दाता और शिव को ही भोक्ता" कहा गया है।[5] शिव को ही कर्त्ता, कर्म और करण माना गया है। वही फलावस्था तथा व्यापार को करने वाला है और समस्त दृश्य, स्पृश्य, प्रेय, रस्य एवं श्रव्य इत्यादि शिव की ही अभिव्यक्ति के कारण माने गये हैं। मनन, अभिमान एवं बोध आदि में एवं सुख-दुःख और मोह में भी परमशिव (परावाक्) को ही माना जाता है।[6] इस प्रकार परमप्रकाशात्मा शिव ही सर्वत्र उपाय, उपेय आदि भाव से अपनी लीला करते हैं।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः संक्षेप में 'शिवदृष्टि' में युक्तिपूर्वक बताया गया है कि आत्मा सद्-चित् आनन्द स्वरूप है, जो समस्त भावों में स्फुरित होती रहती है और यही 'शिव' कहलाती है। 'शिवदृष्टि' में पति, पशु और पाश को एक ही परावाक् (परमसत्ता) की अभिव्यक्ति माना गया है। अतः यह पूर्णरूपेण अद्वैतमत का ही समर्थन करती है। इसमें पूजा, पूजक और पूज्य (शिव) की एकता मानी गई है। इसमें परावाक् (परमसत्ता) के चेतन एवं अचेतन सत्तओं के रूप में स्थूलीकरण, वैयाकरणिकों के मत की स्थापना और निराकरण, शाक्तों, द्वैतवादी शैवों और योग के अनुयायिओं के मत का खण्डन, अद्वैत शैवसिद्धान्त का मण्डन एवं प्रक्रिया के प्रमाता और मेय के स्वभाव में एकत्व प्रदर्शित किया गया है। सार्वभौम (परमसत्ता) परावाक् के सम्बन्ध में अन्य वादों की अवैधता, देवी शक्तियों का एवं मोक्ष के रहस्य आदि का सफल एवं सारगर्भित प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार 'शिवदृष्टि' में परावाक् (परमसत्ता) का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

1. सर्वाहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनवमर्शरूपः शक्तः॥ —वि॰ भै॰ वि॰, पृ॰ 21
2. तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि। आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत्॥ तं॰ आ॰, आ॰ 4, श्लो॰ 208
3. (क) वर्णविशेषावर्मप्रधानः आणवः। —वि॰ भै॰ वि॰, पृ॰ 19
   (ख) उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः। यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥ —मा॰ वि॰ वा॰ तं॰, 2/21
4. जीवः शक्ति शिवस्यैव सर्वत्रैव स्थितापिसा। —तं॰ आ॰, भाग-3, श्लो॰ 59
5. शिवोदाता शिवोभोक्ता॥ —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 63
6. अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे। शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने॥ शि॰ दृ॰, अहि॰ 1/1

पञ्चम अध्याय

विभिन्न मतों की परावाक्

भारत अध्यात्म प्रधान देश रहा है। यहाँ के ऋषि-मुनि आदि महान् चिन्तकों ने ईश्वर की सत्ता एवं उसकी रचना के प्रत्येक पहलू पर गम्भीर चिन्तन किया है। इनमें से ही एक परमसत्ता की पर्याय परावाक् है। जिसके सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् दर्शनों में अपने चिन्तन के स्तर के अनुसार विचार किया है, जो इस प्रकार है :-

चार्वाक दर्शन :

चार्वाक स्थूलतम विचार वाले हैं। ज्ञान के विकास की पहली सीढ़ी पर चढ़कर ये लोग 'आत्मा' की खोज करते हैं। ऐसी स्थिति में स्थूल दृष्टि से जो पदार्थ इनके सामने आते हैं, उन्हें ही ये लोग 'प्रमेय' मानते हैं। इसलिए इनके सिद्धान्त में पृथ्वी, जल, वायु तथा तेज — ये चार पदार्थ संसार में प्रयोग माने जाते हैं। इन्हीं से जगत् की प्रत्येक वस्तु बनती है। चार्वाक लोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। चार्वाक लोग इन चार तत्त्वों के संयोग से ही इस संसार की सृष्टि एवं वियोग से ही संहार मानते हैं। यद्यपि इन्होंने चैतन्य विशिष्ट शरीर को ही आत्मा माना है, परन्तु यह चैतन्यभूतों के संस्थान-विशेष से ही उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति यादृच्छावंश होती है, किसी कारण विशेष से नहीं। जिस प्रकार दो-चार वस्तुओं को मिला देने पर उनमें मादकता शक्ति न रहने पर भी वह शक्ति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार भूतों के संघटन-विशेष में अचानक 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है अथवा जिस प्रकार वर्षा के मौसम में मेंढक या छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े अपने आप भूतों से उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य जीवों में भी 'चैतन्य' अचानक उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि अचेतन के संयोग से शरीर में चैतन्य उत्पन्न होता है। जो शरीर छूटने के साथ ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार चार्वाक लोग मृत्यु को ही अपवर्ग मानते हैं। इस प्रकार वे जगत् के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ को स्वीकार नहीं करते।

बौद्ध दर्शन :

बौद्धों के मतानुसार संसार में कोई भी वस्तु पूर्णरूपेण नित्य अथवा अनित्य नहीं होती। सत्य केवल यही है कि वस्तु का निरन्तर परिवर्तन होता है और कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक स्थायी नहीं रहती है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु का सृजन होता है और उसी उत्पत्तिक्षण में वह तीसरी वस्तु को जन्म देकर नष्ट हो जाती है। वस्तुओं के उत्पत्ति एवं विनाश की यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है। यही संसार है।

भगवान् बुद्ध के अनुसार दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध और निरोधमार्ग — ये चार आर्यसतय हैं। बुद्ध ने एक स्थल पर कहा है, "जितने भी पदार्थ हैं सभी की उत्पत्ति कारण के अनुसार होती है और अनित्य हैं। जो नित्य तथा स्थायी दिखाई देती हैं, वह भी विनाशपूर्ण हैं। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग भी है, जो महान् है, उसका भी पतन है और जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु भी है।" इनका कहना है कि जिस प्रकार दीपक जब तक जलता रहता है, तब तक उसकी लौ की एक ही शिखा प्रतीत होती है, जबकि यह शिखा वास्तव में अनेकों शिखाओं की एक श्रृंखला होती है। एक बूँद तेल डालने से जो शिखा उत्पन्न होती है, वह दूसरी बूँद से उत्पन्न शिखा से भिन्न होती है। किन्तु इन शिखाओं के निरन्तर प्रवाह के कारण इसमें एकता मान होता है। ठीक इसी प्रकार क्षण-क्षण में विलीन होते हुय चित्त के विज्ञानों की परम्परा को ही भ्रम के कारण कल्पना के आधार पर स्थिर रहने वाली आत्मा

समझ लिया जाता है, जबकि क्षणिक चित्त और उसके क्षणिक विचारों को छोड़कर और किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। क्षणिक चित्तों की इन परम्पराओं को अनादि वासनायें घेरे रखती हैं। उन वासनाओं के प्रभाव से क्षणिक चित्तों में दो प्रकार के विचारों का उदय होता है। किसे 'आलयविज्ञान' और 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहा जाता है। 'आल्य' का अर्थ है 'घर' अर्थात् 'चित्त'। इसमें जीव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक सभी विज्ञानों के वासनारूप बीज एकत्रित रहते हैं। ये (बीज) आलय अर्थात् चित्त में शान्तभाव में पड़े रहते हैं और समय आने पर जगत् व्यवहार में प्रकट होते हैं। पुनः इसी में उनका लय भी हो जाता है। "प्रवृत्तिविज्ञान" से तात्पर्य है — व्यवहार में ओन वाले सात विज्ञान (चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, धारणविज्ञान, रसनाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान और क्लिष्टमनोविज्ञान)। ये 'आलयविज्ञान' से ही उत्पन्न होकर उसी में लीन भी हो जाते हैं। वस्तुतः 'प्रवृत्तिविज्ञान' 'आलयविज्ञान' पर ही निर्भर होता है।[1]

विज्ञानवादी केवल क्षणिक विज्ञान की सत्ता मानते हैं और शेष सभी को चित्त की वासनाओं कारण स्वप्नवत् होना मानते हैं। इस प्रकार चित्त को छोड़कर न तो जीव की कोई सत्ता है और न ही जगत् की।[2] माहयमिक बौद्धों के अनुसार शून्य ही परमार्थतत्त्व होता है और इसे अद्वैतत्त्व भी माना जाता है।

आचार्य नागार्जुन के अनुसार — यह न सत् है, न असत् है, न सत् और असत् दोनों है और न दोनों से भिन्न ही है। इस प्रकार इन चार सम्भावित कोटियों से विलक्षण ही एक तत्त्व है, जिसे शून्यवादियों (माध्यमिकों) ने अपनी 'परमसत्ता' माना है। इनका कहना है कि अष्टांग-मार्ग के माध्यम से जब अविद्या आदि क्लेशों का विनाश हो जाता है, तब यह जगत् मिथ्या लगने लगता है और शरीर विनाश हो जाने से आलय-विज्ञान की धारा का भी उच्छेद हो जाता है। इनके मतानुसार जब दीपक की लौ के समान वासना की लौ बुझ जाती है, तो तब निर्वाण की प्राप्ति होती है। ऐसे मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा पाता है।[3]

जैन दर्शन :

जैन मतानुसार मुख्य रूप से दो ही तत्त्व माने गये हैं — जीव और अजीव और इन्हीं का विस्तार पाँच तत्त्वों के रूप में किया है — जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। कुछ लोग सात तत्त्व मानते हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्होंने शरीर से भिन्न 'आत्मा' का निरूपण भी किया है।

जैनों के मत में जीवात्मा देह से भिन्न ही है, लेकिन देह के परिणाम में ही रहती है। देह के बढ़ने और घटने से जीवात्मा भी बढ़ती-घटती रहती है। जैनमत में जगत् की सृष्टि पुद्गल (प्रकृति, परमाणु आदि स्थानीय) से मानी जाती है। यह लोग आकाश की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। जैनों के अनुसार जगत् की सृष्टि शाश्वत् है और वह अनादि एवं अनन्त है। यह लोक ऐसा स्थान है, जहाँ प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही सुख-दुःख, पाप-पुण्य भोगते हैं। जैन दर्शन ने भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की है, इसलिए पुद्गलों से वियोग ही इस दर्शन में मोष कहा गया है और इनका मानना है कि कर्म से उत्पन्न देह में जब आवरण न हो तो जीव निरन्तर ऊपर उठते जाता है, यही मोक्ष (कैवल्य) है।

---

1. पृथिव्यप्तेजोवापुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। तेभ्यश्चैतन्यम्। किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः मरणमेवापवर्गः॥ ब्र॰ सू॰, भा॰, पृ॰ 78
2. चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कारसंज्ञकः॥ —स॰ द॰ सं॰, पृ॰ 86
3. नान्यऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति, तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवेधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ स॰ द॰ सं॰, पृ॰ 70

न्याय-वैशेषिक :

न्याय-वैशेषिक के मतानुसार पृथिवी, जल, तेजस् और वायु का कार्यरूप में अस्तित्व स्वीकार किया गया है और उनका दर्शन ही तत्त्वविचार शास्त्र है। वैशेषिकों ने सात पदार्थ स्वीकार किये हैं, जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। ये छः भावात्मक हैं और सप्तम पदार्थ अभाव भी स्वीकार करते हैं। नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान इत्यादि सोलह पदार्थ स्वीकार किये हैं। इन दर्शनों के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु आदि तत्त्वों के सूक्ष्म परमाणुओं के सम्मिश्रण से ही सृष्टि की रचना होती है। ईश्वर को इस सृष्टि का निमित्त कारण माना गया है और परमाणुओं को ही सृष्टि के (समवायी) उपादान कारण माना गया है। ईश्वरवेच्छा से जीवों के शुभाशुभ कर्मफल से प्रेरित होने पर चार भूतों के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। अतः परमाणु ही सृष्टि का उपादान कारण होता है। कार्यरूप भूतों के अभाव में प्रलयकाल में केवल उनके नित्य रूप परमाणु ही शेष रह जाते हैं। इस प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वरवेच्छा और परमाणुओं में स्पन्दन से होता है। इस स्पन्दन से वे एक दूसरे से मिल जाते हैं। दो अणुओं के संयोग से द्वयणुक, तीन द्वयणुक के संयोग से त्र्यणुक और चार त्र्यणुकों के संयोग से चतसरेणु तैयार होता है। इसी क्रम से स्थूल से स्थूलमहत्त्व परिणामशाली वायु, जल, तेज और पृथ्वी का निर्माण होता जाता है।

इन दर्शनों के मतानुसार, जीवात्मा के गुण बुद्धि, सुख, दुःख आदि सब अनित्य है, तो जीवात्मा भी विकारी है। क्योंकि धर्मों में आने और जाने वाले धर्म, धर्मों को विकासशील बनाते हैं। ये लोग संसार दशा में 'बुद्धि तत्त्व' को ही आत्मा मानते हैं। अतः जीवात्मा (आत्मा) कूटस्य नित्य नहीं है और आत्मा का स्वरूप जड़ के समान हो जाता है, जिसके कारण मुक्ति की दशा में ज्ञान का नाश हो जाता है और आत्मा पाषाणवत् हो जाती हैं अतः वे आत्मा को प्रायः 'शून्य' ही समझते हैं।[1]

इस प्रकार ये दर्शन मोक्ष को प्रायः अभावात्मक शब्दों में लेते हैं। वैशेषिक मतानुसार सारे विशेष गुणों का नाश हो जाना ही मोक्ष है, जबकि नैयायिक आन्त्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं।

सांख्य दर्शन :

सांख्य मतानुसार मूलतः प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की गई है। इन दोनों के मेल से प्रकृति के विकाररूप में बुद्धि से लेकर पृथिवी पर्यन्त तेईस तत्त्वों का विकास होता है, इस प्रकार कुल पच्चीस तत्त्व माने गये हैं।

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है। दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति के जड़ होने से यह संसार केवल उससे उत्पन्न नहीं हो सकता और न स्वभावतः निष्क्रिय पुरुष से ही उत्पन्न हो सकता है। इसलिए प्रकृति-पुरुष दोनों का संयोग इस सृष्टि कार्य में ज़रूरी है। चेतना की अध्यक्षता में ही जड़ प्रकृति सृष्टि कार्य का सम्पादन कर सकती है। परन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति पुरुष का संयोग कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में सांख्यवादी कहते हैं कि जिस प्रकार अन्धे में चलने की शक्ति होती है, परन्तु मार्ग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं होता है, दूसरी तरफ लंगड़ा मार्गदर्शक होते हुए भी चलने में समर्थ नहीं होता है। परन्तु पारस्परिक संयोग से ये दोनों जिस प्रकार स्वार्थसिद्धि सफल होते हैं, उसी प्रकार जड़ात्मिका परन्तु सक्रिय प्रकृति और निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग परस्पर कार्यसाधक है। सांख्य दर्शन में तीन गुणों की सत्ता मानी गई है — सत्व, रजस् और तमस्। प्रलयकाल में प्रकृति साम्यावस्था में रहती है,

1. नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्॥ प्र॰ हृ॰, पृ॰ 60

उसके तीनों गुण समभाव से रहते हैं। परन्तु पुरुष के साथ संयोग होते ही इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और एक हलचल सी होती है और तभी सृष्टि का कार्य आरम्भ होता है।

अज्ञानवश पुरुष सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध होकर स्वयं चेतन, साक्षी और अकर्त्ता होने पर भी प्रकृति के गुणों को अपना मान लेता है और भोक्ता बनकर सुख-दुःख भोगता है और आवागमन के चक्र में फंस जाता है, यही बन्धन है। अतः संसार का मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधान विवेक है। प्रकृति के उपरत हो जाने पर पुरुष का अपने रूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष माना जाता है। उधर अपना कार्य समाप्त करके सत्त्व, रजस् और तमस् — ये तीनों गुण भी मूल प्रकृति में आत्यान्तिक रूप से विलीन हो जाते हैं और प्रकृति को भी मोक्ष मिलता है। वस्तुतः बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष नहीं। पुरुष तो केवल प्रकृति में अपने प्रतिबिम्ब के पड़ने से उसमें प्रकाशित होने वाले सुख-दुःख को अपना मानकर उसका कर्ता-भोक्तादि होने का अनुभव करता है।

योग दर्शन :

योगदर्शन में भी सांख्य दर्शन के अनुरूप ही 25 तत्त्वों का वर्णन किया गया है। लेकिन इन्होंने प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार की है, जो कि एक पुरुष विशेष ही होती है।[1] इसी कारण योग के 'सेवर सांख्य' भी कहते हैं। योगदर्शन के अनुसार जो पुरुष विशेष क्लेश, कर्म, वियाक तथा आशय से शून्य रहता है, वह 'ईश्वर' कहलाता है। मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है और प्रकृतिलीन के भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना रहती है, परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त है। अतः वह मुक्त पुरुष और प्रकृतिलीन पुरुष से सदा ही मुक्त होता है।

योग दर्शन अनुसार ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमात्मा (परमसत्ता) हैं और संसार के सब जीवों से भिन्न तथा महान् और श्रेष्ठ हैं। इनके मत में साधक को क्रिया योग और समाधि योग का अभ्यास करने से इष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। पञ्च प्रकार के क्लेश भी क्रियायोग से क्षीण होते हैं और इनका वास्तविक विनाश तो ज्ञान से ही सम्भव होता है। इसके पश्चात् यम, नियमादि अंगों का अनुष्ठान करने से चित्त की वृत्तियों के निरोध होने से पुरुष पूर्ण चैतन्य रूप का लाभ उठाता है और मोक्ष (कैवल्य) को प्राप्त करता है।

मीमांसक दर्शन :

मीमांसक लोग बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं।[2] प्राचीन मीमांसक ईश्वर की सत्ता नहीं मानते हैं, लेकिन मनुष्य के कर्मों का शुभाशुभ फल देने के लिए अदृष्ट नाम की एक शक्ति मानते हैं। अर्वाचीन मीमांसकों ने ईश्वर को कर्मफल के दाता के रूप में स्वीकार किया है। इनके मतानुसार तीन प्रकार से संसार मनुष्य को बन्धन में डालता है अर्थात् भोगायतन 'शरीर', भोग-साधन 'इन्द्रियाँ' तथा शब्द, स्पर्श, रूप, आदि भोग्य 'विषय' — इन तीनों के द्वारा मनुष्य सुख-दुःख का साक्षात् अनुभव करता है और अनादि काल से 'बन्धन' में पड़ा रहता है। इन तीनों के आत्यन्तिक विनाश होने से ही 'मुक्ति' मिलती है[3] और जगत् तथा आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम ही 'मोक्ष' होता है। मीमांसक 'प्रपञ्चसम्बन्धविलय' को मोक्ष मानते हैं जबकि वेदान्ती 'प्रपञ्चविलय' को ही मोक्ष मानते हैं। इनके अनुसार जब ब्रह्मज्ञान होता है, तो अविद्या का विनाश हो जाने से जगत् की सत्ता नहीं

---

1. क्लेश्कर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —प॰ बोध 1/24
2. अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदःखाद्युपाधिमिः निरस्कृतः आत्माइति मन्वना मीमांसा अपि बुद्धावेव निविष्टाः। प्र॰ ह॰, पृ॰ 60
3. त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति-भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषययोऽपरोक्षानुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः॥ —शा॰ दी॰, पृ॰ 358

रहती है, अर्थात् प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्नप्रपञ्च अविद्यानिर्मित होता है, उसी प्रकार यह संसार भी अविद्यानिर्मित ही है, लेकिन मीमांसकों के अनुसार मुक्तावस्था में भी जगत् की सत्ता उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार अविद्यादशा में रहती है, केवल बन्ध का ही नाश होता है और साथ में वह यह भी कहते हैं कि मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता हैं इनके मत में चैतन्य आत्मा का स्वभाविक गुण नहीं होता है, प्रत्युत् शरीर आदि के सम्पर्क से ही उसे सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है। इस प्रकार मुक्तावस्था में सब दुःखों का सर्वथा विनाश हो जाता है और आत्मा सुख-दुःख से परे विशुद्ध रूप में विद्यमान हो जाती है। यही मुक्ति (मोक्ष) की अवस्था होती है, जो सुख-दुःख से रहित होने पर भी आनन्दमय नहीं होती है।

वेदान्त दर्शन :

अद्वैत वेदान्त मतानुसार ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है, जो ज्ञान स्वरूप होता है। माया के कारण ही वह ईश्वर, जीव और जगत् के रूप में अध्यासित होता रहता है।[1] जगत् तो बन्धा पुत्र की भाँति सर्वथा मिथ्या है[2], किन्तु स्वयं मिथ्यारूपा (अविद्या) माया के कारण इसका आभासमात्र होता ही है[3], जिस प्रकार अन्धकार होने के कारण रज्जु के स्थान पर सर्फ की प्रतीति होती है। ईश्वर, जीव और जगत् का मिथ्याभास ही विवर्तत एवं इसके कारण ही वेदान्मत विर्वतवादी अभिहित होते हैं।[4] ब्रह्म को केवल ज्ञान रूप एवं निष्क्रिय मानने से ही वेदान्तियों के ब्रह्म को जगत् की रचना करने के लिये माया का सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि मायोपहित चैतन्य (ईश्वर) से ही वेदान्त सृष्टि रचना मानते हैं। लेकिन यह माया आई कहाँ से?

यदि वेदान्ती माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हों, तो ब्रह्म में क्रियाशीलता भी माननी पड़ेगी — जो उन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि वह केवल माया से प्रभावित ईश्वर (सगुण ब्रह्म) में ही मानी गई है — निर्गुणा ब्रह्म में नहीं और यदि उसे ब्रह्म से भिन्न मानते हों, तो द्वैतता का दोष आता है। सांख्य और वेदान्त में पुरुष अथवा आत्मा को निष्क्रिय ही माना गया है। अतः वेदान्ती ब्रह्म एवं जगत् प्रक्रिया सहित माया के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते हैं। इनकी मुक्ति की धारणा भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि वेदान्तानुसार ज्ञान से समस्त द्वैत प्रपञ्च अद्वैतभाव के भीतर बुझ-सा जाता है।[5] तब न कोई सुख और न ही कोई दुःख का अनुभव होता है। शुद्ध आकाश की जैसी शान्ति में आत्मा खो जाती है। यही चरम लक्ष्य होने से मुक्ति कही जाती है।[6] शैवों के मत में माया का अनादित्व एवं अनिर्वचनीयत्व अक्षम्य है एवं वेदान्तसम्मत ब्रह्म-निर्वाण की दशा में दुःख के अभाव की ही प्राप्ति मानी जा सकती है, किसी भावात्मक आनन्द की नहीं, क्योंकि वेदान्त की दृष्टि में ब्रह्म वस्तुतः ऐश्वर्यहीन होता है।[7] भावात्मक आनन्द की अभिव्यक्ति अपने ऐश्वर्य के अभिमुख्य के बिना

---

1. (क) तदेवमद्यिात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो, विद्यापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्य सर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपद्यते। —ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰, 2/1/44
   (ख) चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा। तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां ब्रजेत। पं॰ द॰, 3-40
2. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ गौ॰ प॰ का॰ 2/21
3. सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नत्युभयात्मिका नो।
   सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो, महाद्गुताऽनिर्वचनीयरूपा॥ —वि॰ चू॰, श्लो॰ 111
4. (क) विवर्तते— तदसत्यरूपमात्मन्युपगचछति, असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तस्तस्यास्तद्विवर्त्तते। —शि॰ दृ॰ वृ॰, 2/9
   (ख) सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥
5. अविद्या निर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्याया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते॥ शा॰ दी॰, पृ॰ 356
6. ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्। ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥ गौ॰ पा॰ का॰, 4/1
7. परमार्थवस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहारभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वादि व्यवहारः — एष सर्वेश्वर, एष भूताधिपतिरेष भूतपाल, एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदायेति॥ ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰, 2/1/14

हो ही नहीं सकती। विषयानन्द की अनुभूति में भी अपने ऐश्वर्य की क्षणिक अभिव्यक्ति होती है, जिसे मूढ़जन नहीं समझते हैं।[1] इसलिए प्रत्यभिज्ञा अद्वैत शैव दर्शन की दृष्टि में अपने ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति से हीन होते हुए वह ब्रह्मनिर्वाण की दशा भी पूर्ण मुक्ति नहीं हो सकती। तुर्या दशा का उन्मेष मात्र हो सकता है, इसीलिये इसे शून्यभाव की अपेक्षा ब्रह्मभाव अथवा अभाव की अपेक्षा सद्रूप कहा गया है। ब्रह्म की ईश्वरता की असत्यता एवं उसके (ईश्वरता के) माया के कारण आभासित होने की बात पर भी शैव सहमत नहीं हैं, क्योंकि परमेश्वरता ही परमसत्ता का मुख्य स्वभाव है और उसके बिना तो वह जड़ घटादिवत् ही होता है एवं उसका सवित्त्व अर्थात् चेतनत्व व्यर्थ होता है।[2] यह परमसत्ता प्रकाशात्मक है और प्रकाश विमर्श स्वभाव होता है।[3] यह विमर्श ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार द्वारा अकृत्रिभाहंरूप से स्फुरित होता रहता है। यदि वह निर्विमर्श होता, तो जड़ अनीश्वर ही होता।[4]

जगत् के आभास एवं माया के आभास क लिए भी शक्तिमान् एवं सर्वज्ञतादि से समन्वित सार्वभौम सत्ता ही सर्वथा हो सकती है। वेदान्त का साधक अधिक से अधिक आत्म-व्याप्ति की दशा तक पहुँच सकता है, जिसमें माया-प्रपञ्च नहीं रहता और केवल अपने स्वरूप का बोध हो जाता है, परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन का साधक शिवव्याप्ति की अवस्था तक पहुँच जाता है, जिससे माहेश्वर्य की प्राप्ति होती है।[5] जगत् अपनी शक्तियों का विकासरूप दिखाई देने से परमानन्दमय अनुभूत होता है। आत्म-महेश्वर के प्रत्यभिज्ञान से शिव तुल्य हो जाता है[6] और उसका सर्वथा उत्थान होता है।

शैवमत में परावाक् विषयक धारणाओं का विश्लेषण :

शैवमत में एकमात्र परमार्थकसत्ता परमशिव को माना गया है। इस परमशिव को ही पराचिति एवं परासंवित् आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसकी अनन्त शक्तियाँ हैं, प्रमुख शक्ति को पराशक्ति अथवा 'परावाक्' कहते हैं। यह इसका स्वरूप ही है, अर्थात् शिव और शक्ति के सामरस्य रूप को ही परमसत्ता कहा जाता है। यह परावाक् शक्ति पराकुण्डलिनी, मातृका अथवा महामातृका इत्यादि नामों से भी जानी जाती है। वास्तव में जगत् का विकास एवं समस्त व्यवहार इसी मातृका शक्ति पर ही निर्भर है। तभी शिवसूत्रों में इसका समस्त जगत् का अधिष्ठान अथवा आश्रय रूप कहा जाता है।[7] सद्भावतन्त्र अनुसार भी इस मातृका शक्ति को परमतेज से समन्वित एवं स्थावर जंगम ब्रह्मा पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त माना गया है।[8] परात्रिंशिका अनुसार में भी इसी प्रकार से कहा गया है कि जिस प्रकार से वट्टवृक्ष के बीज में अतिसूक्ष्म रूप से सम्पूर्ण विशाल वृक्ष का रूप, रंग, फल, फूल इत्यादि विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार मातृका शक्ति में सम्पूर्ण जगत् विद्यमान रहता है।[9] समस्त

---

1. जायपा सम्परिष्वक्तो न ब्राह्मं वेद नान्नरम्। निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूढस्तं मन्यते विधिम्॥ वि॰ भै॰ उ॰, पृ॰ 59
2. अस्थास्यदेसकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः। महेश्वरत्वं सवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्॥ तं॰ आ॰, 3/100
3. स्वभावमभासस्य विमर्श विदुरन्यथा। प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपम्॥ ई॰ प्र॰ का, 42
4. इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम विश्वाकोण, विश्व-प्रकाशेन, विश्वसंहारणेन चाकृत्रिमाहम्। इति विस्फुरणम्। यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत॥ —परा॰ प्र॰, पृ॰ 2
5. पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपावलोकनं हि यत्। आत्मव्याप्तिर्भवत्येषा शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा॥
   सार्वज्ञादिगुणा येऽर्था व्यापकान्भावयेद्यदा। शिवव्याप्तिर्भवत्येषा चैतन्ये हेतुरूपिणी॥ शि॰ सू॰ वि॰, पृ॰ 147
6. शिवतुल्यो जायते। —शि॰ सू॰, 3/25
7. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका — शि॰ सू॰, 1/4
8. या सा तु मातृका देवि पशतेजः समन्विता। तथा व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्मभुवनान्तकम्॥ —तं॰ सद्॰
9. यथान्यग्रोधबीजस्यः शक्तिरूपा महाद्रुमः। तथा हृदयबीजस्यं विश्वमेतच्चराचरम्॥ —परा॰ त्रि॰ 34

जगत् का आचार व्यवहार वाक् के माध्यम से होता है। व्यक्ति जो कुछ भी सोचता है, बोलता है, अथवा करता है, यही सभी मन, वाणी एवं कार्य को व्यवहार, मातृका शक्ति के ही अधीन है। जब वह सुनता है, तो मातृका शक्ति के माध्यम से ही सुनता है, उसकी प्रतिक्रिया करता है और तदानुकूल अच्छा या बुरा, शुभ या अशुभ यथा व्यवहार करता है। श्री सर्ववीर, 'श्रीतिमिरोद्घाट तन्त्र' एवं 'शिवसूत्र विमर्शिनी' आदि प्रसिद्ध आगमों में कहा गया है कि मातृका शक्ति ही लिपिक्रम से प्रमाता (जीव) के कर्णरन्द्र में तत् तत् वाचक शब्द अनुवेद द्वारा शोक, स्मथ, हर्ष एवं राग इत्यादि भावों को उत्थापित करती है।[1] सभी मन्त्र अथवा शब्द वर्णात्मक होते हैं और वर्ण शक्तिरूप होते हैं और शक्ति ही मातृका कहलाती है और तन्त्रसद्भाव के अनुसार इसे 'शिवात्मिका' कहा गया है।[2]

व्याकरण की दृष्टि से 'मातृका', 'वर्ण' और 'चक्र' 'समूह' का द्योतक है। अतएव 'मातृका चक्र' 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त 'वर्ण-समूह' का परिचायक है और भाषा विज्ञान में 'ध्वनि-समूह' का अद्वैत शैव दर्शन में 'मातृका चक्र' मात्र वर्णों अथवा ध्वनियों का ही समूहमात्र नहीं है, अपितु संघट्टरूप में मातृका शक्ति, महामातृका शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति, महाकुण्डलिनीशक्ति, परावाक् शक्ति आदि तथा पृथक्-पृथवह् वर्णों या ध्वनियों की अपेक्षा से ब्राह्मी आदि शक्तियों का संकेतक है। श्रीतन्त्रसद्भाव में कहा गया है कि शक्ति ही मातृका है और वह शिवात्मिका है।[3] यह मातृका शक्ति परम तेज से समन्वित है तथा इसी से चेतन ब्रह्मा से लेकर स्थूल जड़ भुवनों पर्यन्त समस्त विश्व व्याप्त है।[4] यह परावाक् शक्ति एक होते हुए भी जगत् रचना के लिए ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बा के त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होकर इनके परस्पर संयोग-वियोग से नव वर्णों में प्रकाशित होती है, इसीलिए 'नवधा' कहलाती है[5] —

	वर्ण वर्ग	**अधिष्ठात शक्ति**
1.	'अ' वर्ग (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः)	योगीश्वरी, महालक्ष्मी
2.	'क' वर्ग (क, ख, ग, घ, ङ)	ब्राह्मी
3.	'च' वर्ग (च, छ, ज, झ, ञ)	माहेश्वरी
4.	'ट' वर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण)	कौमारी
5.	'त' वर्ग (त, थ, द, ध, न)	वैष्णवी
6.	'प' वर्ग (प, फ, ब, भ, म)	वाराही
7.	'य' वर्ग (य, र, ल, व)	ऐन्द्री/इन्द्राणी
8.	'श' वर्ग (श, ष, स, ह)	चामुण्डा
9.	'क्ष' वर्ग (क्ष)	चामुण्डा

सद्योजात, तत्पुरुष, ईशान, वामदेव और अघोर रूप पाँच मन्त्रों में व्याप्त होने से 'पञ्चविद्या' कहलाती है।[6] बारह स्वरों (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ के बिना) में व्याप्ति से 'द्वादशस्था' कही जाती है और इस

1. .....तत्तद्वाचकशब्दानुवेधद्वारेण शोक-स्मय-हर्ष-रागादिरूप-तामादधाना.... इति श्रीतिमिरोदघाटप्रोक्तनीत्या...... . श्रीसर्ववीराद्यागमप्रसिद्धलिपिक्रम- संनिवेशोत्यापिका...... शक्तिरधिष्ठात्री......।।—शि॰ सू॰, वि॰ 1/4
2. सर्वे वर्णात्मका मंत्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये। शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मका॥—तं॰ सद्॰
3. शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका॥ —श्री॰ तं॰ स॰ भ॰
4. या सा तु मातृका देवि परतेजः समन्विता। तया व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्मभुवनान्तकम्॥ श्री॰ तं॰ स॰ भ॰
5. एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते॥ आभ्यो युक्तवियुक्ताभ्यः संजातो नववर्गकः। नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता।। श्री॰ तं॰ स॰ भ॰
6. पञ्चमन्त्रगता देवि सद्यआदिरनुक्रमात्। तेन पञ्चविद्या प्रोक्ता ज्ञातव्या सुरनायिकै॥ श्री॰ तं॰ स॰ भ॰

प्रकार 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त पचास वर्ण भेदों से **'पञ्चाशतविद्या'** कहलाती है।[1] यह पराशक्ति (परावाक्) अथवा पराकुण्डलिनी शक्ति ही कुण्डलिनी रूप से चिदात्मिका अवस्था में सभी आभासों का बीज रूप होती और विश्वमयी दशा में सभी का जीव (जीवन, सपमि) होती है।[2] यह 'विसर्ग शक्ति' भी कही जाती है। शिव से अभिन्न यह शक्ति सुप्त सर्ववत् साढ़े तीन (3ऋ्द) वलयों (लपेटों) में लिपटी (बवपसमक) होने से शक्ति 'कुण्डलिनी' कही जाती है। एक लपेट (विसक) प्रमेय, दूसरी प्रमाण, तीसरी प्रमाता तथा आधी प्रमा की द्योतक है, जिसमें प्रमाता और प्रमेय दोनों अभिन्न संघट्ट रूप में अवस्थित होते हैं।

इस प्रकार यह इसकी प्रसुप्त-सी दशा मानी जाती है। बाह्य जीवन आभासित करने की अवस्था में 'प्राण कुण्डलिनी' कहलाती है। इस अवस्था में संवित् प्राण अथवा जीवन का रूप धारण करती है। भट्टश्रीकल्लट भी तत्त्वार्थ चिन्तामणि में ऐसा ही मत प्रकट करते हैं।[3] यह प्राण कुण्डलिनी प्रत्येक प्राणी (जीव) में विद्यमान है। आरोह क्रम में जीवन (प्राण) से चेतना जब वह अपने मूल संविद्रूप को धारण कर लेती है, वह 'पराकुण्डलिनी' कही जाती है। इस अवस्था में 'अहम्' और इदम् (विश्व) आत्मा और अनात्मा (विश्व प्रपञ्च) की ऐक्य अनुभूति का आनन्द होता है। प्रत्येक वस्तु आत्मा के रूप में भासित होती है।

हृदय में स्थित हुई शक्ति 'एकाणवा', कण्ठ में प्रकाशित होती हुई 'द्वितीयका' और जिह्वामूल में सदा अवस्थित 'त्रिराणवा' कहलाती है। निःसन्देहरूप में, जिह्वा के अग्रभाग में वर्ण निष्पत्ति होती है। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति होती है और चराचर जगत् शब्द से व्याप्त होता है।[4] यह आभास शब्द और अर्थ, नाम और रूप अथवा वाचक और वाच्य से युक्त होता है। परा दशा में ये एकरूप होते हैं और सृष्टिक्रम में दो रूपों में अभिव्यक्त होते हैं, जहाँ वाचक प्रमाता और वाच्य प्रमेय के लिए है। सभी मानवीय प्रक्रियायें (आचार-व्यवहार, आदान-प्रदान, बोलचाल आदि) वाचक (शब्दों) द्वारा सम्पन्न होती है। वाचक मातृका से समन्वित होता है। अतः मातृका (वर्ण, ध्वनि) द्वारा ही सभी जीवों के कार्य कलाप सम्पन्न होते हैं। उनके ज्ञान का आधार मातृका (परावाक्) ही है।[5] वह ही अज्ञात होने से उस प्रकार का सीमित वेद्यानुभवरूप ज्ञान करवाती है — "मैं अपूर्ण हूँ" (आणव मल), "दुबला-मोटा हूँ" (मायीय मल), "अग्निष्टोम यज्ञ का कर्त्ता हूँ" (कार्म मल), जिससे उस प्रकार के अविकल्पक या सविकल्पक अनुभव परामर्श (प्रतीति) के वाचक शब्द के अनुवेध अर्थात् कर्णरन्ध्र से मन में प्रविष्ट होने से शोक, समय, हर्ष, राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं और तदनुकूल आचरण होता है।[6] तभी श्रीतिमिरोद्घाट में कहा गया है कि पीठों (इन्द्रियों) की अधिष्ठातृ शक्तियाँ, जो ब्रह्मपाश लेकर ब्रह्मरन्ध्र में चिति के गिर्द घूमती रहती है, जीवों के बार-बार मोह में डालती है।[7]

---

1. स्वरद्वादशगा देवी द्वादशस्या उदाहृता। अकारादिक्षकारान्ता स्थिता पञ्चशता भिदा॥ श्री॰ तं॰ स॰ भ॰
2. सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका। —श्रीसिद्धामृते
3. प्राक् संवित् प्राणे परिणता। —त॰ अ॰ चि॰
4. हृतस्थाएकाणवा प्रोक्ता कण्ठे प्रोक्ता द्वितीयका। त्रिराणवा तु ज्ञातव्या जिह्वामूले सदा स्थिता॥
   जिह्वाग्रे वर्णनिष्पत्तिर्भवत्यत्र न संशयः। एवं शब्दस्य निष्पत्तिः शब्दव्याप्तं चराचरम्॥ —श्रीतन्त्रसद्भाव
5. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका। —शि॰ सू॰, 1/4
6. तत्तत्संकुचितवेद्याभासात्मनोज्ञानस्य 'अपूर्णोऽस्मि, क्षाम, स्थूलो वास्मि, अग्निष्टोमयाऽयस्मि' इत्यादि तत्तदविकल्पकसविकल्पकावभासपरामर्शमयस्य तत्तद्वाचकशब्दानुवेधद्वारेण शोकस्मय-हर्ष-रागादिरूपातमदधाना।
   —शि॰ सू॰ वि॰, 1/4
7. करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः। पीठेश्वर्या महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहुः॥ —श्रीतिमिरोद्घाट

मातृका शक्ति, जो वर्ग (वर्ण श्रेणी), कला (शक्ति का सूक्ष्मतम विश्व प्रमेयरूप) आदि का नियन्त्रण करने वाली ब्रह्मादि शक्तिसमूह के रूप में शोभित होती है, श्री सर्ववीरादि आगमों में प्रसिद्ध है कि वह लिपि को वर्णों के निश्चित् क्रम में सन्निवेश द्वारा लोगों में सभी प्रकार की क्रियाओं तथा अनुभूतियों को उत्थापित करने वाली है, अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा संज्ञक शक्तिसमूह से चुम्बित है, वह सबकी अधिष्ठात्री हैं।[1] इस मातृका (परावाक्) शक्ति के अधिष्ठान से ही जीवों को अन्तः (शिव, परासंवित्, आतमा) अभेद (ऐक्य) विमर्श (अनुसन्धि, अनुभूति) न होने से सतत् विश्रान्तिरहित बहिर्मुख ज्ञान होता है।[2] अतः ऐसे ज्ञान को बन्धन का कारण मानना शिवसूत्रों में उचित ही है।[3] तात्पर्य यह है कि सभी ज्ञानों की विश्रान्ति स्वस्वभाव आत्मा में ही है और यह शिवरूप है।

स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि अकारादि क्षकारान्त शब्दजननी मातृका (परावाक्) से उत्पन्न ब्राह्मी आदि शक्तियों का वह जीव शिकार हो जाता है, जब कलाओं (ककारादि अक्षरों के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता)[4] क्योंकि परमार्थ स्वरूप के आवरण में ये शक्तियाँ सदा उदित रहती हैं।[5] शब्द संभेद से ही विचार उत्पन्न होते हैं और भांति-भांति की क्रियायें सम्पन्न होती हैं और वे शब्द (वर्ण) शक्तियों द्वारा नियन्त्रित रहते हैं।

आचार्य क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहते हैं कि चित्प्रकाश से अभिन्न नित्योदित, महामन्त्ररूपा, पूर्णाहंविमर्शमयी यह परावाक् शक्ति आदि — क्षान्तरूपा अशेषशक्तिचक्रगर्भिणी है। यही पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी के क्रम से ग्राहक (जीव) दशा को प्रकाशित करती है।

भगवती चितिशक्ति ही संसार को वमन (सृष्टि) करने के कारण और संसाररूपी वाम (विपरीत) आचरण के कारण 'वामेश्वरी' कहलाती है। क्षेमराज कहते हैं कि चिति शक्ति वामेश्वरी ही खेचरी-गोचरी, दिक्चरी, भूचरी रूपों द्वारा अशेष प्रमातृ — अन्तःकरण — बहिष्करण भाव स्वभावों के रूप में परिस्फुटित होती हैं यह जीव को परिज्ञान (पूर्णज्ञान) द्वारा पूर्ण बनाते हुए मुक्ति देती है और अज्ञान द्वारा उसे अवच्छिन्न बनाते हुए बन्धन में डालती है। इस प्रकार अपनी शक्तियों द्वारा व्यामोहित हो जाना ही संसार दशा या बन्धन है। ये चार प्रकार के शक्ति चक्र हैं —

1. खेचरी :

अपने मूलरूप में ज्ञान के अनन्त आकाश में विचरण करने वाली इन शक्तियों का नाम 'चिद्गगनचरी' (चिदाकाश में विचरण करने वाली) है।[6] परन्तु जब परमेश्वर की सर्वकर्तृता आदि

---

1. वर्ग-कलाद्याधिष्ठातृब्राह्मादि शक्तिश्रेणीशोभिन श्रीसर्ववीराद्यगमप्रसिद्धलिपिक्रम-संनिवेशोत्थापिका अम्बा-ज्येष्ठा-रौद्री-वामाख्यशक्तिचक्रचुम्बितो शक्तिरधिष्ठात्री। —शि॰ सू॰ वि॰, 1/4
2. तदधिष्ठानादेव हि अनतरमेदानुसंधिवन्ध्यत्वात् क्षणमपि अलब्धविश्रान्तीनि बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि, इति युक्तैव एषां बन्धकत्वोक्तिः। —शि॰ सू॰ वि॰, 1/4
3. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका। —शि॰ सू॰, 1/4
4. शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥ —स्प॰ का॰, 3/15
5. स्वरूपावरणे चास्य शक्त्यः सततोत्थिताः।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः॥ —स्प॰ का॰, 3/17
6. (क) चितिशक्तिरेव भगवती....... वामेश्वर्याखया सती, खेचरी, गोचरी, दिक्चरी भूचरीरूपेः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती पशुभूमिकायां..... पत्तिहृदयविकासिना स्फुरति उक्तं भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु.......।।—प्र॰ हृ॰ टी॰, सू॰ 12, पृ॰ 73,74
(ख) पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः। वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्ति बन्धताः॥

असंकुचित और असीम पाँच शक्तियाँ संकोच में पड़कर कला, विद्या, राग, काल, नियति, आदि पाँच कञ्चुकों का रूप धारण करती हैं, तब पशुभूमिका पर उनका नाम 'खेचरी चक्र' पड़ता है। इस अवस्था में पशुओं के ज्ञान क्षेत्र पर संकोच का आवरण डालकर अपना वास्तविक 'चिद्गगनचरी' रूप को छिपा लेती है, जिससे वे अपने आपको दरिद्र एवं असहाय जैसा समझते हैं।[1] दूसरी ओर यही शक्तिवर्ग सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि पाँच असीम परमेश्वरी शक्तिरूपों में स्पन्दायमान् होता हुआ अपने वास्तविक 'चिद्गगनचरी' रूप से पतिप्रमाता के हृदय को विकसित करता रहता है।[2]

2. गोचरी :

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार वाणियों के और अन्तःकरणों के क्षेत्र में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग— एक ओर पशुप्रमाता के हृदय को भेदव्याप्ति में डालकर अपारमार्थिक संकल्पविकल्पों का शिकार बना लेता है और दूसरी ओर पतिप्रमाता के हृदय में पूर्ण अभेद व्याप्ति के रूप में स्फुरायमान होता है।[3]

3. दिक्चरी :

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ नामक दस दिशाओं में विचरण करने वाली शक्तिवर्ग — एक ओर पशुओं की इन्द्रियों को बाहर संसार की ओर प्रवाहमान बनाकर उनके द्वारा उनको बाह्य विषयों का भेदरूप में ग्रहण करवाती रहती हैं और दूसरी ओर पतिप्रमाता को अन्तर्मुखीन एवं अतीन्द्रिय संवेदन के द्वारा प्रत्येक पदार्थ का अभेद 'अहं' रूप में ग्रहण करवाती हैं।[4]

4. भूचरी :

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध — इन पाँच प्रमेय भूमिकाओं में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग[5] — एक और पशुप्रमाता को भिन्न-भिन्न रूपों में अवभासिव होने वाले घट-पट इत्यादि अनन्त प्रमेयजालों के गोरख धन्धे में फंसा लेता है और दूसरी ओर पतिप्रमाता को उन्हीं अनन्त रूपों वाले प्रमेय पदार्थों का अपने ही अङ्गों के समान, विशुद्ध विन्मात्र रूप से ही अनुभव करा लेता है।[6] सारा आन्तर शक्तिचक्र स्पन्दमयी अर्थात् नित्यचेतन है। यही नित्य चेतन शक्तिवर्ग सारे इन्द्रिवर्ग में और इनसे इतर अन्य देह, प्राण, पुर्यष्टक इत्यादि में चेतना का संचार करके उनको चेतन के समानधर्मा बना लेता है, जिससे संसारी जीव अपनी अनुरूप परिधि में उसी प्रकार सृष्टि संहारादि कार्य करता रहता है, जिस प्रकार स्वयं परमेश्वर अपने असीम विश्वातमस्वरूप में करता है।

संसार दशापन्न करने के लिए इनमें भेदसृष्टि और पतिदशा समन्वित करने के लिए अभेददृष्टि उत्पन्न कर देती है। चिदात्मा परमेश्वर की स्वानपायिनी, अद्वितीय, स्फुस्तासार, कर्तृतात्मा, ऐश्वर्यशक्ति के स्वरूप को छुपाकर पशु दशा में प्राण-अपान-समान शक्तिदशाओं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति भूमियाँ देह-प्राण, पुर्यष्टक कलाओं द्वारा विमोहित करना 'बन्धन' कहलाता है। परन्तु वही जब मध्यधम उल्लासरूपा उदानशक्ति एवं विश्व-व्याप्तिसार ब्यान शक्ति के रूप में तुर्यदशा और चिदानन्दधन तुर्यातीत दशा को उन्मीलित करती है, तो देहादि में अवस्थित प्राणी को पतिदशा

1. खे बोधगगने चरतीति। —प्र॰ हृ॰, सू॰ 12
2. पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मक कलादिशक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिकचिद्गन-चरीत्वस्वरूपेण चकास्ति। —प्र॰ हृ॰, सू॰ 12
3. द्रष्टव्य, —प्र॰ हृ॰, सू॰ 12
4. द्रष्टव्य, —प्र॰ हृ॰, सू॰ 12
5. द्रष्टव्य, —प्र॰ हृ॰, सू॰ 12
6. द्रष्टव्य, —प्र॰ हृ॰, सू॰ 12

(जीवन्मुक्ति) भी अनुभव करता है।[1]

अतः स्पष्ट है कि मातृका शक्ति (परावाक्) का विश्व प्रपञ्च में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अद्वैतशैव दर्शन में शिवत्व से जीवत्व प्राप्ति का कारण मलों को माना जाता है। ये आणव, मायीय एवं कार्य संज्ञक मलों का आधार शब्दों में निहित प्रत्यय (पकमें, विचार) होते हैं। ये शब्द वर्णरूप होते हैं। ये वर्ण अथवा ध्वनि समूह की जननी ही मातृका (परावाक्) कहलाती है। अन्ततः यही मातृका शक्ति जीवों के सीमित ज्ञानरूप बन्धन का करण बनती है। परन्तु इसका सम्यक् ज्ञान अथवा संबोध होने पर यही मुक्तिदायिनी हो जाती है। तभी शिवसूत्रों में कहा गया है कि मातृका चक्र के संधान से विश्व (भेद, द्वैत, बन्ध) का संहार हो जाता है।[2] अतः जो भी इस रहस्य को समझता है, वह शब्दों अथवा वर्णों को मात्र ध्वनिसंकेत अथवा भाषा का माध्यममात्र नहीं मानता है, अपितु शक्तिरूप में अनुभव करता है, जो शिवत्व की प्राप्ति है। मन्त्र विज्ञान[3], औषधि विज्ञान, मन्त्र अथवा तन्त्र विज्ञान में सर्वत्र यही ज्ञान का मूल है।[4]

इस प्रकार यद्यपि चार्वाकों, बौद्धों, जैनों, न्याय-वैशेषिक, मीमांसकों, सांख्य, योग एवं वदान्तयों ने परावाक् शब्द का प्रयोग नहीं किया है, तथापि स्थूल शरीर में अवयव विशेष जिह्वा को माना है, जिससे वाणी का उच्चारण होता है। अतः इनके मत में वाक् केवल स्थूल शरीर पर निर्भर अवयव विशेष ही है।

निष्कर्ष

"परावाक् और शिवदृष्टि" का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतवर्ष की धार्मिक, दार्शनिक एवं संस्कृतिक रचना में आगमों का अपूर्व योगदान है। आगम आध्यात्मिक ज्ञान की अपूर्व निधि हैं, जिन पर इस परम्परा के दर्शन आधारित हैं। आगम की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें जो सिद्धान्त दिए गए हैं, वे कल्पना अथवा मानसिक चिन्तन के आधार पर नहीं, वरन् अनुभव के आधार पर है। योगियों, ज्ञानियों ने सत्य का जो अनुभव प्राप्त किया है, उसी से यह परम्परा चली है। इसलिए अभिनवगुप्त तन्त्रपरम्परा को 'अनुभवसम्प्रदाय' कहते हैं।[5] जैसे कि सर्वविदित है कि वेद को 'निगम' और तन्त्र को 'आगम' कहा जाता है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से 'निगम' का अर्थ है — आधार वाक्य को मान लेना और मानकर उससे आगे निष्कर्ष निकालना और 'आगम' का अर्थ है — आधार वाक्यों को केवल मान ही नहीं लेना, अपितु अनुभव में सत्य को देखकर आधार वाक्य प्राप्त करना और तब उससे निष्कर्ष निकालना। तात्पर्य यह है कि आगम अनुभव पर आधारित है। यद्यपि वेद का ज्ञान भी अनुभवगम्य है, तथापि वेद को मुख्यतः ईश्वरप्रदत्त ज्ञान माना जाता है। किन्तु तन्त्र (आगम) वस्तुतः जीवन में अनुभूत व्यवहारिक ज्ञान है। योगियों, ज्ञानियों ने जो अतिबौद्धक परम ज्ञान प्राप्त किया है, तन्त्र उसी का अभिलेख है। अभिनवगुप्त का मत है कि शिव-पार्वती प्रश्नोत्तर वस्तुतः अपना संवित् (आत्मा) के भीतर का ही प्रश्नोत्तर है — प्रश्नकर्त्री संवित् पार्वती है एवं उत्तरादात्रा संवित् शिव हैं।[6]

---

1. अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वाअनपायिनी एकैव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्ति। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापानसमानशक्तिदशाभिः ....पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिभर्वति। प्र॰ हृ॰, पृ॰ 74, 75
2. शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः। —शि॰ सू॰, 1/6
3. श्रीतन्त्रसद्भावेऽपि - मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिख्यया। तया हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत्॥ —शि॰ सू॰ वि॰ सू॰, 2/1
4. श्री श्री कण्ठीयसंहितायां तु — ज्ञानमूलामिदं सर्व सर्वमन्यधानैव सिद्धयति।
5. अनुभवसंप्रदायोपदेशपरिशीलनेन— अस्यार्थस्य स्वसंविन्मयस्यानपलापनीयत्वात् न तत् युगपत् अपि तु "तथासौक्ष्म्यादलक्षणम्" इति॥ —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 161
6. स्वात्मा सर्वभावस्वभावः स्वयं प्रकाशमानः स्वात्मानमेव स्वात्मविभिन्नेन प्रश्नप्रतिवचनात् प्रष्टृप्रतिवक्तृस्वात्मभयेन अहन्तया चमत्कुर्वन विमृशाति। —परा॰ त्रिं॰ वि॰, पृ॰ 14, 15

आगम तीन प्रकार के हैं — अभेदापरक, भेदाभेदपरक और भेदपरक, जिन्हें क्रमशः भैरवागम, रुद्रागम और शिवागम कहते हैं।[1] काश्मीर शैव दार्शनिक अभेद आगमों को आगमों में सर्वोपरि मानते हैं, क्योंकि अभेद-दर्शन सभी दर्शनों में अनुस्यूत है। इस प्रकार अभेद-दर्शन भेद को भी अपने में समाहित किए हैं। इसी कारण अभेद-दर्शन भेद (द्वैत) रूप जगत् को अभेद रूप अद्वय शिव का ही स्वतन्त्र्य स्फुरण मानता है। अतः भेद (द्वैत) अभेद (अद्वैत) में समाहित है, किन्तु भेद में अभेद समाहित नहीं हो सकता, क्योंकि अभेद को भेद का स्फुरण नहीं कहा जा सकता।

शैवागम की इस अद्वैतवादी दार्शनिक विचारधारा का विकास कश्मीर देश में हुआ और शैवदर्शन के इस अद्वैतवाद पर उपलब्ध साहित्य के प्रायः सभी रचयिता कश्मीर के निवासी हैं। कश्मीर का मूल धर्म अद्वैतशैव, जोकि इसकी सुन्दरता की भाँति ही मन को मोहने वाला था। सोमानन्द की दृष्टि में इसे अत्यन्त प्राचीन दर्शन स्वीकार किया गया है। आगम शास्त्रों अनुसार युग-युग में इस दर्शन की विद्या का अविर्भाव, तिरोभाव और पुनः अविर्भाव होता रहा।

प्राचीन काल में यह विद्या केवल ऋषि-मुनियों के पास ही थी और वे साधारण जन को इसका उपदेश नहीं देते थे, केवल योग्याधिकारियों को ही इसका उपदेश देते थे। कलिकाल का प्रारम्भ होने पर ये रहस्य ज्ञान दुर्गम विषय बन गये और काल का ग्रास भी हो चुके थे। तब भगवान् शिव ने जगत्कल्याण हेतु इसके पुनरुत्थान के लिए श्रीकण्ठ का रूप धारण करके महर्षि दुर्वासा को इसका उपदेश दिया, जिससे उन्होंने पृथक्-पृथक् शिष्यों के माध्यम से इसका प्रचार-प्रसार किया, जिससे जन-जन कृतार्थ हो सके। 'शिवदृष्टि' में इस दर्शन को 'ईश्वराद्वयवाद' कहा गया है। इस 'ईश्वराद्वयवाद' के वर्तमान प्रवर्तक सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि सिद्ध पुरुष थे।[2] जिस प्रकार केसर कश्मीर में उत्पन्न होता है और बाहर के देशों में भेजा जाता है, इसी प्रकार यह प्रत्यभिज्ञा-दर्शन भी कश्मीर में ही आविर्भूत हुआ और फिर पूरे देश में फैल गया एवं सर्वमान्य भी हुआ।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार एकमात्र परमार्थसत्ता परमशिव अथवा पराशक्ति (परावाक्) मानी गई है, इसको परासंवित् परावाव्ह अथवा मातृका भी कहा जाता है। शिव और शक्ति परस्पर अग्नि और उष्णत्व, जल और शीतत्व, पुष्प और सुगन्ध, चाँद और चाँदनी की तरह अभिन्न हैं। इनके दो रूप माने गये हैं, एक विश्वोत्तीर्ण और दूसरा विश्वमय। विश्वमोत्तीर्णरूप में समस्त प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय अथवा जड़ चेतना एक रूप में भासित होते हैं। जैसे — अग्नि में डलने वाली वस्तुएँ उससे अभिन्न हो जाती हैं, वह स्वयं प्रकाशरूप है और उसमें पड़ी हुई सभी वस्तुएँ भी प्रकाशमय हो जाती हैं।[3] विश्व रचना के समय मातृका शक्ति (परावाक्) अपने आप को नाना रूपों में अभिव्यक्त करती है, यही उनका विश्वमय रूप कहलाता है। इस प्रकार शिव, शक्ति एवं विश्व में पारमार्थिक रूप से उनमें भिन्नता नहीं है। केवल व्यवहार में जगत् और ईश्वर में भेद माना जाता है।[4] जिस प्रकार एक योगी अपनी इच्छा से किसी भी वस्तु का निर्माण कर सकता है, उसी प्रकार परावाक् अथवा मातृका शक्ति अन्तः स्थित समस्त अर्थसमूह को 'वाचक' और 'वाच्य' रूप में बाह्य जगत्रूप में अभिव्यक्त करती है।

---

1. अतश्च भेदभेदाभेदप्रतिपादकं शिवरुद्रभैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्भूतम्। —तं॰ आ॰, वि॰, पृ॰ 45
2. श्रीसोमानन्दपादप्रभृतिगुरुवरादिष्टसन्नीतिभागो, लब्धा यत्रैव सम्यक्पटिमनि घटनामीश्वरा- द्वैतवादः। कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलो रञ्जयन् सर्वदिशान् देशेऽन्यस्मिनदृष्टो घृसृण- विसखत्सर्ववन्द्यत्वमाप॥ तं॰ आ॰ वि॰, आह॰, श्लो॰ 37
3. तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूप एव भावाः। —प्र॰ ह॰ टी॰, सृ॰ 3
4. क्वचिदेव भवान क्वचिद्भवानी सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
   परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः॥ —शि॰ स्तो॰, श्लो॰ 18/2

सभी प्रकार के प्राणियों की गतिविधियाँ अथवा आचार-व्यवहार वाचक, शब्दों से माध्यम से होता है और यह शब्द मातृका (परावाक्) में निहित है। मातृका (परावाक्) से तात्पर्य — वर्ण अथवा वर्णध्वनि होता है। इसलिए यह परावाक्, मातृका शक्ति ही है, जिसकी शक्ति से सभी प्राणी अपना-अपना कार्यकलाप करते हैं। अथवा मन, वाणी और काय से तरह-तरह के मनन-चिन्तन, बोलचाल अथवा क्रियात्मिक रूप में किसी भी कार्य को सम्पन्न करते हैं।

परावाक्, मातृका शक्ति भगवान् शब्द शशिरूप हैं, जो नानारूपात्मक विश्व की जननी है।[1] जगत्गुरु शंकराचार्य भी नित्य मातृका शक्ति, परावाक् से देवादि की उत्पत्ति मानते हैं।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है — "उसने 'भू' कहते हुए भूमि का सृजन किया। शंकराचार्य कहते हैं, इस प्रकार मन से उत्पन्न हुये 'भूरादि' शब्दों द्वारा उस परमसत्ता ने 'भूराटि' लोकों की सृष्टि की, ऐसा इस श्रुति का तात्पर्य है।[3]

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में भी शब्दपूर्वा ही देवमनुष्य पितर आदि समस्त विश्व की सृष्टि की बात कही गई है।[4] शंकराचार्य का मत है कि मन में विद्यमान वाचक शब्द का स्मरण करने के पश्चात् ही तदनुसार इच्छित कार्य किया जाता है, ऐसा सभी प्राणियों को प्रत्यक्ष का ज्ञान है। इसी प्रकार विधाता से भी पहले मन में प्रादुर्भूत हुए वैदिक (नित्य शब्द, परावाक्, मातृका) शब्द से पश्चात् में तदनुसार अर्थों की सृष्टि हुई।[5] मनुस्मृति अनुसार भी महेश्वर पूर्व में वेद शब्दों में निहित सभी प्राणियों के नाम, कर्म इत्यादि पृथक्-पृथक् रूप से किया गया है।[6] अन्य स्मृतियों में नित्या वेदमयी (ज्ञानमयी) दिव्या वाक् से सभी की उत्पत्ति की बात कही गई है।[7] भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में अनादि, नित्या, अक्षररूप शब्दतत्त्व को ही ब्रह्मा माना है, जिसका विवर्तरूप जगत् माना गया है।[8]

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में शब्द को (अक्षर) ब्रह्मरूप ही अभिव्यक्त करते हैं।[9] ऋग्वेद के वाक्सूक्त में कहा गया है कि परावाक् शक्ति ही ग्यारह रुद्रों, आठ वसुओं और बारह आदित्यों को धारण करती है।[10] इस जगत् में जो भी व्यक्ति अन्न को खाता है अर्थात् सांसारिका भोगों को भोगता है, अर्थात् इन्हीं शक्ति से प्राणी अन्न खाते हैं, भोगों को भोगते हैं। प्राणियों का देखना, श्वास लेना,

---

1. आदिक्षान्तरूपा अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी। —शि॰ सू॰ वि॰ 1/4
2. ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम्॥ —ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰, 1/3/28
3. (क) स भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृत। —तै॰ ब्रा॰ 2/2/4/2
   (ख) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति। ब्रा॰ सू॰ शां॰ भा॰, 1/3/28
4. (क) ते हि शब्दपूर्वा सष्टिं दर्शयतः। एते इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृं स्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शास्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः इति श्रुतिः। तथान्यत्रपि स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्। —बृ॰ उप॰ 1/2/8
   (ख) इत्यादिना तत्र-तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्रव्यते। —ब्र॰ सू॰ शां॰ भा॰ 1/3/28
5. अपि चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्व स्मृत्वा पश्चात्तर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्व वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते। —ब्रा॰ सू॰ शां॰ भा॰, 1/3/28
6. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु॰ स्मृति, 2/21
7. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ —स्मृति
8. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रयिा जगतो यतः॥ —वा॰ प॰, ब्र॰ का॰, 1
9. अक्षरं ब्रह्म परमं। —भ॰ गी॰ 8/3
10. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
    अहं मित्रावरूणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ —ऋ॰ वे॰, मं॰ 1., मं॰ 1, सू॰ 125

बोलना इन्हीं के द्वारा सम्भव होता है। ये सब प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से उपस्थित हैं।[1] वही पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान सर्वत्र व्याप्त है। द्युलाक से परे और इस पृथिवी लोक से भी परे, इनको अतिक्रान्त करती हुई अपनी महिमा से विशाल रूप से अवस्थित है।[2]

यह परामातृका शक्ति, जिसको पराशक्ति, परावाक् कुण्डलिनी भी कहा जाता है — यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयरूप विश्वप्रपञ्च को उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण मातृका (परावाक्) की मूल शक्ति है। यही विश्व रचना के समय स्वयं को पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में अभिव्यक्त करती है। भर्तृहरि ने भी 'वाक्यपदीप' के ब्रह्मकाण्ड में 'वाक्' के इन रूपों को स्वीकार किया है। वेदों में भी 'परावाक्' के चार रूप स्पष्टतः वर्णित है।[3] इसका इतना महत्त्व है कि महाभाष्यकार पतंजलि ने इसके चार रूप — नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ग्रहण किये हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में चार प्रकार के विभाग को दूसरे रूपों में भी व्यक्त किया गया है।[4] ऋक्संहिता में कहा गया है कि 'वाक्' को कोई देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। परन्तु कुछ विद्वान् इसके अनुग्रह से इसको निकट से जानते हैं और सामने यह अपना रहस्य वैसे ही खोल देती है, जैसे कोई सुसज्जित उत्कण्ठित पत्नी अपने आप को अपने पति के सामने डाल देती है।[5] विशुद्ध 'वाक्' व्यवहार करने वालों के लिए कहा जाता है कि जिस प्रकार छाननी से सत्तु (आटा) शुद्ध कर उसका प्रयोग करते हैं, वे लोक में मित्र होते हैं अर्थात् मित्रता का सुख पाते हैं, उनकी वाणी में कल्याणमयी रमणीयता एवं लक्ष्मी रहती है।[6]

बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित ब्रह्मऋषि याज्ञवल्क्य एवं राजा जनक के परस्पर संवाद से भी स्पष्ट है कि 'वाक्' शक्ति लोक यात्रा में भी अद्वितीय रूप में सहायक है एवं जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा की चाँदनी भी नहीं रहती, आग भी बुझी रहती है, उस समय भी प्राणी की प्रकाश देने वाली 'वाक्' शक्ति ही है। अतः 'वाक्' ही प्रत्यक्षता पुरुष की प्रकाशिका होती है।[7]

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि 'वाक्' की उपासना करनी चाहिए[8] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वेद का ज्ञान 'वाक्' से ही होता है। इतिहास, पुराण और अनेक विद्याएँ 'वाक्' से ही जानी जाती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् अनुसार इस लोक का, परलोक का और सम्पूर्ण भूतों का ज्ञान 'वाक्' से ही होता है। सभी प्रार के ज्ञानों का अधिष्ठान एकमात्र 'वाक्' ही है।[9] तभी ऐतरेयोपनिषद् में ऋषि

---

1. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यतियः प्राणितिय ई शृणोत्युक्तम्।
   अमन्तवो मां त उपक्षियन्तिश्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥
2. अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
   परो दिवा पर एना पृथिव्येतावती महिना संबभूव॥ —ऋ॰ वे॰, मं॰ 10, मं॰ 8, सू॰ 125
3. (क) चत्वारी वाक् परिमिता पदानि। —ऋ॰ सं॰ 1/164/45
   (ख) चत्वारि श‍ृङ्गा। —गो॰ ब्रा॰, 3/7
4. द्रष्टव्य —निरुक्त 13/9
5. द्रष्टव्य —ऋ॰ सं॰, 10/61/4
6. सक्तुभिव तितडना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
   अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ —ऋ॰ सं॰, 10/61/2
7. द्रष्टव्य —बृ॰ उप॰ 4/3/5
8. द्रष्टव्य —छां॰ उप॰ 7/2
9. सर्वेषां वेदानां वागेवायतनम्। —बृ॰ उप॰, 2/4/11

कहते हैं — "वाक् मेरे मन में प्रतिष्ठित है और 'वाक्' ही मेरी वाणी में भी प्रतिष्ठित है।"[1]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जब तक परावाक् अथवा मातृका के रहस्य ज्ञान को समझा नहीं जाता, तब तक प्राणी अपने जीवन में केवल दुःख, क्लेश, चिन्ता एवं अभावों के घेरे में फंस कर भटकता ही रहता है। प्राणी संसारिक क्रिया-कलापों एवं मोह-माया आदि में फंसा हुआ एक बार भी अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए यदि जीव, जीवन के रहस्य को समझना चाहे या वे अपने परमार्थ स्वरूप को पहचानना चाहें, तो उन्हें (परावाक्) मातृका के रहस्य को जानना ही होगा। इसके सम्यक् ज्ञान को न जानने से हम भवचक्कर में झकड़े रहते हैं और बन्धन में पड़े रहते हैं। इसलिए भगवान् शिव सिद्धवसुगुप्त को शिवसूत्रों के माध्यम से मातृका (परावाक्) रहस्य बताते हैं, जिसको जानकर मुक्ति मिलती है, आवागमन से छुटकारा मिलता है और परमानन्द (परावाक्) की प्राप्ति होती है।[2]

---

1. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। —ऐत॰ उप॰
2. (क) मातृकाचक्रसम्बोधः। —शि॰ सू॰, 2/7
   (ख) शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। —श॰ बा॰

सहायक ग्रन्थ–सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं. 1918
2.	अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	सं. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय	प्रथम सं. 1960
3.	अभिधावृत्तिमातृका	मुकुलभट्ट	चौखम्बा विद्या भवन, पो. बॉ. नं. 69, वाराणसी–221001	प्रथम सं.
4.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं. 1918, 21
5.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं. 1921
6.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाष्य	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	प्रथम सं. 1930
7.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत सीरीज़ श्रीनगर	प्रथम सं. 1920
8.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा और सांख्य कारिका	डॉ. जगीर सिंह	जम्मू विश्वविद्यालय	2000
9.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
10.	ऐतरेयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
11.	ऋक्सूक्त संग्रह	डॉ. हरिदत्त शास्त्री, डॉ. कृष्ण कुमार	साहित्य भण्डार, मेरठ	1975
12.	ऋग्वेद संहिता	निगम	साहित्य भण्डार, मेरठ	1975
13.	कठोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
14.	काश्मीर शैव दर्शन	डॉ. बल्जिन्नाथ पण्डित शास्त्री	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू	1973
15.	छान्दोगयोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949

16.	तन्त्रलोक	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत सीरीज़	1938
17.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1963
18.	तन्त्रलोक विवेक	जयरथ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1981
19.	तन्त्रलोक टीका	अभिनवगुप्त	अनुसन्धान विभाग जम्मू-कश्मीर (श्रीनगर)	1940
20.	दुर्गासप्तशती	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
21.	तैत्तिरोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
22.	ध्वन्यालोक	अभिनवगुप्त	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	1928
23.	न्यायमञ्जरी	जैन्तभट्ट	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1965
24.	न्यायसूत्र	अक्षपाद गौतम	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1970
25.	नेत्रतन्त्र	आचार्य क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918-1938
26.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास	प्रथम सं. 1984
27.	परमार्थसार कारिका	अभिनवगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास	1985
28.	पातञ्जलयोग सूत्र	पतञ्जलि	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1980
29.	पराप्रावेशिका	राजानक क्षेमराज सं. - पं. मुकुन्द-रामशास्त्री	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918 ग्र. 15
30.	परात्रिंशिका विवरण	आचार्य अभिनवगुप्त सं. - पं. मुकुन्द-रामशास्त्री	काश्मीर संस्कृत सीरीज़, श्रीनगर	प्रथम सं. 1931
31.	परात्रिंशिका	आगम	अनुसन्धान विभाग जम्मू-काश्मीर,	1918

32.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	चौखम्बा विद्या भवन	प्रथम सं. 1970
33.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र	क्षेमराज	कुर्ट एफ. लेडॅक्कार, अडयार पुस्तकालय	द्वि. सं. 1975
34.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
35.	ब्रह्मसूत्र	शंकराचार्य	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1975
36.	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य	शंकराचार्य	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1977
37.	भगवत गीता	वेद व्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	1970
38.	मालिनीविजय	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
39.	भारतीय दर्शन	डॉ. राधाकृष्ण	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1974
40.	माण्डकोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
41.	मालिनी विजय तंत्र	आगम	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं.
42.	विज्ञान भैरव विवृत्ति	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
43.	विभान भैरव	आगम	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1921
44.	वाक्य पदीय	भृंतहरि	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी	1961
45.	स्पन्दकारिका	वसुगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1950
46.	स्पन्दकारिका विवृत्ति	श्री रामकण्ठ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1980
47.	स्वच्छन्द तन्त्र	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1925
48.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्रथम सं. 1932
49.	शिवसूत्र	जयदेव सिंह	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1982

50.	शिवदृष्टि वृत्ति	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1934
51.	स्पन्दसंदोह	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1935
52.	शिवसूत्र वार्तिकम्	वरदराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1951
53.	शिवसूत्र विमर्शिनी	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1938
54.	शिवसूत्र विवरणम्	सुखानन्द जाडू	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली–11	1965
55.	शिवसूत्र वार्तिक	भास्कर	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1960
56.	याज्ञवल्क्य स्मृति	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	1985
57.	योगवासिष्ठ	वसिष्ठ	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1980
58.	षट्त्रिंशततत्त्वसन्दोह	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918